ओ३म्
...का स्वरूप
डॉ. सुनीति
एम. ए. पीएच. डी.
क्रान्तिदूत प्रकाशन

वसुकान्त आर्य
प्रकाशक
क्रान्तिदूत प्रकाशन

फोन : 41112

प्रथम संस्करण 1980
मकर संक्रान्ति पर

तीन रुपए मात्र
3/-

मुद्रक
अरविन्द प्रेस
चूड़ी बाजार हैदराबाद.

ओ३म्

वेद में धर्म का स्वरूप
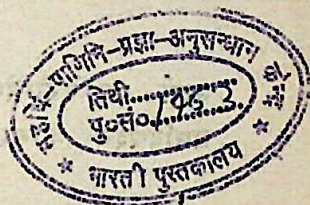
डॉ. सुनीति
एम. ए., पी-एच्. डी.

क्रान्तिदूत प्रकाशन

—उद्घोष

ऊर्ध्वं बाहुर्विरोम्येष न कश्चिच्छृणोति माम् ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ?

महर्षि वेद व्यास

दोनों भुजाओं को उठाकर मैं निश्चय पूर्वक घोषणा करता हूँ कि धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है । इसलिए संसार के मनुष्यो ! तुम धर्माचरण क्यों नहीं करते ?

× × × ×

सुखार्था सर्व भूतानां मता सर्वाः प्रवृत्तयः ।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्म परोभवः ॥

महर्षि पतञ्जलि

संसार के समस्त प्राणी सुख की कामना से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं । पर यह निश्चित है कि बिना धर्म के सुख की सिद्धि संभव नहीं ।

अतः हे मनुष्य ! तू सुख की प्राप्ति के लिए निश्चित रूप से धर्म में प्रवृत्त हो ।

– सश्रद्ध समर्पण

युग पुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती

जिन्होंने समस्त सम्प्रदायों के तमस् को झकझोर कर फिर से भूतल पर सत्य सनातन वैदिक धर्म का सूर्य जगमगा दिया। जिस के आलोक में हर मनुष्य सुख, शान्ति व आनन्द को प्राप्त कर सकता है। उन्हीं के विचार सुमन उन्हीं के चरणों में सश्रद्ध समर्पित।
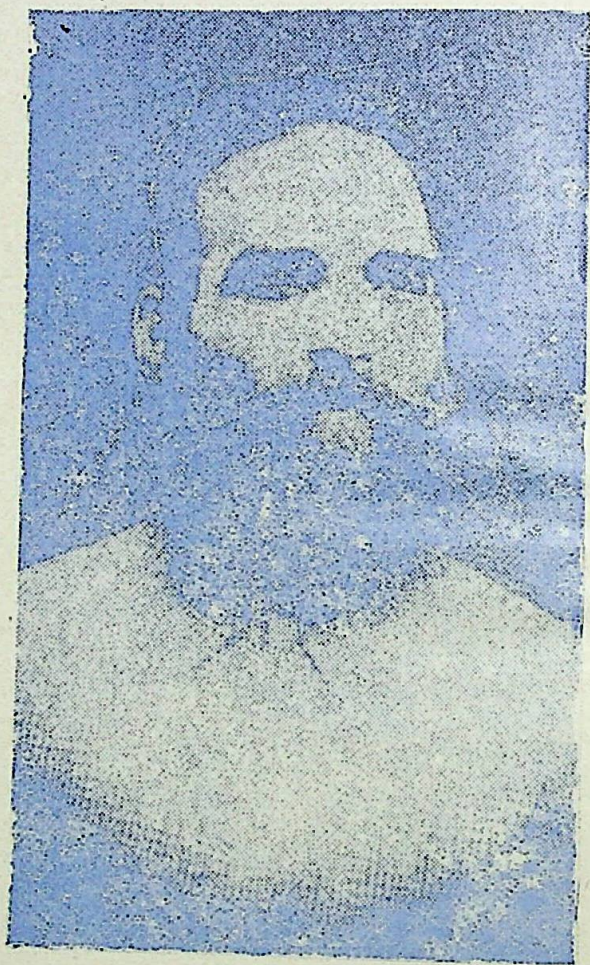
वैदिक धर्म के प्रचार व प्रसार हित अपने जीवन का उत्सर्ग करने वाले कर्मनिष्ठ धर्म मूर्ति पिता स्व **भाई वंशीलाल जी** वकील हायकोर्ट. जिनके पवित्र संस्कार व प्रेरणा ही हमारा जीवन पाथेय है उन की पुण्य स्मृति में।

डॉ. सुनीति
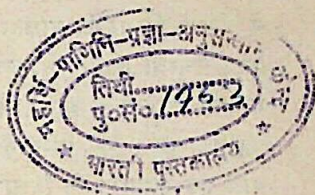
ओ३म्

पृष्ठभूमि

मनुष्य समाज द्वारा मान्य ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तों का नाम धर्म है जो सबके लिए समान रूप से हितकारी हैं। जो सत्य धर्म है वह त्रिकाल में सब देशों में एक ही रूप में विद्यमान रहता है। आज के अर्थ प्रधान युग में धर्म एक संकुचित सम्प्रदाय या मत के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। हर मत ने एक अवतार या पैगम्बर को ईश्वर का रूप या दूत मान कर अपने विभिन्न मत ग्रन्थों को धर्म पुस्तक की संज्ञा दे दी हैं। धर्म के नाम पर विभिन्न प्रकार के ईश्वरों की कल्पना करते हुए नाना प्रकार के उपासना गृहों को धर्म स्थल घोषित कर दिया है। धर्म के नाम पर कुछ काल्पनिक स्वर्ग नरक की कथाओं से आज मानव समाज आशंकित और भ्रमित होता जा रहा है।

धर्म के नाम पर तथाकथित धर्म के अस्पष्ट रूप ने ही मानव समाज में परस्पर घृणा द्वेष व फूट के बीज बोए हैं अतः आवश्यकता इस बात की है कि धर्म पर छाए इस कुहासे को ज्ञान रश्मियों से विदीर्ण कर उसके तेजस्वी स्वरूप के दर्शन किए जाएँ।

दो और दो-चार की मान्यता जिस तरह सार्वकालिक है उसी तरह,धर्म के मूल तत्व न्याय, सत्य, दया, करुणा, मैत्री भी सार्वभौम व सार्वकालीन हैं। गणित का सही उत्तर एक ही होता है और अशुद्ध उत्तर भिन्नता लिए हुए होते हैं। आज के युग में इसी सत्य की खोज

में जीवन की समस्त साधना को अर्पित करने वाले विलक्षण विद्वान् परम तेजस्वी महर्षि दयानन्द सरस्वती थे जिन्होंने अपने तप त्याग के माध्यम से ज्ञान के अपूर्व कोश वेद को पढ़कर धर्म के असली तत्व को पहचाना था। सारे विश्व के मानवों को धर्म का सच्चा स्वरूप बतलाने वाले इस महापुरुष के विचारों को भी सम्यक् तया समाज के सन्मुख नही रखा जा सका। इसी बात को लक्ष्य में रखकर मेरी स्नेहमयी अनुजा डॉ. सुनीति ने ऋषि के इन विचारों को संकलित कर प्रकाशन की इच्छा व्यक्त की तो मैंने उसे प्रोत्साहित किया।

आशा है प्रिय बहिन का यह प्रयास धर्म पर चलने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा व प्रकाश देगा। जिज्ञासु जन धर्म के सच्चे स्वरूप को जानकर मानव जन्म को सार्थक करेंगे।

इस उपादेय पुस्तिका से समाज में धर्म के यथार्थ स्वरूप का बोध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

वेदभूषण
अधिष्ठाता
अन्तर्राष्ट्रीय वेद प्रतिष्ठान

२३ दिसम्बर, १९७९
हैदराबाद

ओ३म्
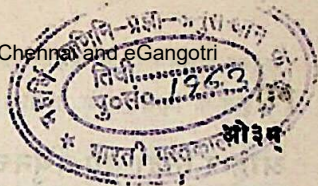
वेद में धर्म का स्वरूप

धर्म मानव की एक अनिवार्य आवश्यकता है। यह एक ऐसी शक्ति है जिसके बिना मानव समाज समुन्नत नहीं हो पाता, परन्तु इसके विपरीत जब मानव समाज धर्म के विकृत रूप को अपनाने लगता है तब वह घृणा द्वेष व हिंसा के रूप में नाना प्रकार की दुर्बलताओं से घिर जाता है। इसीलिए समय समय पर अनेक महापुरुष धर्म के विकृत स्वरूप को सँवारने का प्रयत्न किया करते हैं किन्तु कालान्तर में इन महापुरुषों के अनुयायी उनके वास्तविक सुधार वादी दृष्टिकोण को बिसरा कर उनके नाम को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का माध्यम बना लेते हैं और इस प्रकार मानव समाज अनेक समूहों में विभक्त हो जाता है।

धर्म के नाम पर मत-मताम्तरों के आपसी विवाद कभी-कभी इतनी उग्रता तक पहुँच जाते हैं कि उससे सारी मानवता को क्षति पहुँचती है। परिणामतः मानव के हृदय में धर्म के ही प्रति अनासक्ति के भाव उत्पन्न होने लगते हैं।

आज के तथाकथित प्रगतिशील व्यक्ति धर्म को तिलाञ्जली देकर शान्ति व सुख के मार्ग को खोजने का प्रयत्न करते हैं परन्तु उनका यह प्रयत्न ख पुष्प के समान ही सिद्ध होता है। वास्तव में धर्म वह पीयूष धारा है जिसके बिना मानव शिशु का आत्मिक और सामाजिक विकास असंभव है।

धर्म को केवल कर्म काण्ड में आबद्ध कर देने से वह संकुचित होकर प्रभावहीन हो जाता है और धर्म को पूर्णतया भुला देने से

मनुष्य भौतिकता में फँसकर शारीरिक स्तर पर ही जीने लगता है। संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है।

आहार निद्रा भय मैथुनंच, सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो ही तेषां अधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभि समाना।

शरीर को आहार द्वारा पुष्ट करना, निद्रा से विश्राम ग्रहण करना, अपने प्राणों की रक्षा करना या अपनी तरह सन्तान को जन्म देना, यह कार्य तो पशु पक्षी भी करते हैं जब तक मनुष्य मन और आत्मा की उन्नति की ओर ध्यान नहीं देता तब तक वह मनुष्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं है। इस प्रकार के आचरण से मनुष्य में और पशु में नाम मात्र का ही अन्तर शेष रह जाता है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य जन्म को पाकर हम धर्म के माध्यम से उन्नति का उपक्रम करें।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिए सर्वप्रथम धर्म शब्द के अर्थ पर विचार करना समीचीन होगा। 'धृञ् धारणे' इस धातु से धर्म शब्द सिद्ध होता है। इसी से यह स्पष्ट है कि धर्म धारण करने की वस्तु है। महाभारत में भी कहा गया है 'धारणाद्धर्ममित्याहु' धर्म को धर्म इसीलिए कहते हैं क्योंकि वह धारण किया जाता है। धारण करने योग्य गुणों का नाम ही धर्म है। वैसे सृष्टि के समस्त पदार्थों में उनका अपना एक विशिष्ट गुण धर्म निहित होता है जैसे अग्नि में दाहकता जल में शीतलता आदि। इसी प्रकार पशुपक्षी, वृक्ष वनस्पति में भी उन उनके स्वाभाविक गुण धर्म स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु मानव इसका एकमात्र अपवाद है।

मनुष्य के अपने गुण धर्म स्वाभाविक रूप से जन्मतः ही प्रकट नहीं होते प्रत्युत् इन्हें अर्जित करके प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करना होता है। उसका यह अर्जन परंपरागत ज्ञान से ही संभव है। यद्यपि प्रत्येक आत्मा

जन्म जन्मान्तरों के संस्कार वश कुछ विशिष्ट गुण लिए होती है पर उन गुणों का सुसंस्कार ज्ञान के माध्यम से ही संभव होता है। इसीलिए परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब सर्वप्रथम मनुष्य का निर्माण किया तब उसकी उन्नति के लिए ज्ञान भी प्रदान किया, जिन्हें वेद कहा जाता है। इन्हीं ज्ञान के पुञ्ज वेदों में परमात्मा ने मानवीय धर्म का भी बहुत सुन्दर उपदेश दिया है।

जब तक मानव समाज वेदों में वर्णित उपदेशों के अनुसार धर्म के तत्वों को अपनाता रहता है उसके व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में सुख और शान्ति की मात्रा बढ़ती रहती है। जब मानव समाज अज्ञानवश धर्म की आत्मा को विस्मृत कर इससे पराङ् मुख हो धर्म के बाह्य अवशेषों को आडंबर के रूप में अंगीकार कर लेता है तब वह मिथ्या अभिमान में चूर होकर समाज में परस्पर घृणा द्वेष और अशान्ति को जन्म देता है। तब मानव समाज प्रगतिशील न रह कर जड़ धर्म के पालन से जड़वत् ही हो जाता है। वास्तव में धर्म उन गुणों का नाम है जिनके धारण करने से हमारी आत्मा उन्नत होती है। आगे के पृष्ठों में वेद मंत्रों के माध्यम से धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया जाएगा।

आधुनिक युग में वेदों के महान् प्रवक्ता महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने अत्यन्त अमूल्य ग्रन्थ 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' में वेदों में विहित धर्म के सच्चे स्वरूप को भली प्रकार प्रस्तुत किया है उन्हीं के द्वारा उल्लिखित मंत्रों पर क्रमशः विचार व विवेचन कर धर्म के उज्ज्वल पथ को प्रशस्त करने का विनम्र प्रयास किया गया है। जिससे मानव समाज में धर्म का सत्य स्वरूप स्पष्ट हो और मानव सुख व शान्ति के पथ पर उग्रसर होने में समर्थ हो सके।

[१]

यहाँ अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है। देखो परमेश्वर हम सबों के लिए धर्म का उपदेश करता है-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथापूर्वे सं जानाना उपासते ॥

ऋ. मं. १० सू. १९१ मं. २

"**संगच्छध्वं**-हे मनुष्य लोगो ! जो पक्षपात रहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग उसी को ग्रहण करो। उससे विपरीत कभी मत चलो किन्तु उसकी प्राप्ति के लिए विरोध को छोड़कर परस्पर सम्मति में रहो। जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाए और किसी प्रकार का दुःख न हो।

संवदध्वं-तुम लोभ विरुद्धवाद को छोड़ कर परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना पढ़ाना प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो। जिससे तुम्हारी सत्य विद्या नित्य बढ़ती रहे।

सं वो मनांसि जानताम्-तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो जिससे तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर

पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावें। जिससे तुम लोग ज्ञानी होकर नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिए अधर्म का नहीं।

देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते– जैसे पक्षपात रहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेद रीति से सत्य धर्म का आचरण करते आए हैं इसी प्रकार से तुम भी करो क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है—एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य जानने की इच्छा तीसरा परमेश्वर और उसकी कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है अन्यथा नहीं।"

उपरोक्त मंत्र ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त का दूसरा मंत्र है। पाश्चात्य और पौर्वात्य सभी विद्वान् एक मत से इस सत्य को स्वीकार करते है कि संसार की सबसे प्राचीनतम पुस्तक ऋग्वेद ही है। 'ऋग्भिः स्तुवन्ति' अर्थात् ऋग्वेद के द्वारा पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सभी पदार्थों के गुणों का ज्ञान प्राप्त होता है। ऋग्वेद में स्वयं अपने, जीवात्मा एवं प्रकृति के यथावत् स्वरूप को दर्शाने के बाद अन्त में परमपिता प्रभु इस मंत्र के द्वारा मनुष्य मात्र को इस बात का उपदेश देते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर हमें ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए। क्योंकि 'मन ज्ञाने' इस धातु से मनुष्य शब्द की निष्पत्ति होती है। इस से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवन का मुख्य कर्तव्य ज्ञान प्राप्ति है। यहाँ मन्त्र के 'संगच्छध्वं' में सम पूर्वक जिस गम् धातु का प्रयोग हुआ है उसके तीन अर्थ हैं ज्ञान गमन और प्राप्ति। ज्ञान के द्वारा ही हम गतिशील बन सकते हैं और सुखों की प्राप्ति में ही ज्ञान की सार्थकता है।

'संवदध्वं' ज्ञान प्राप्ति का साधन बतलाते हुए मंत्र में कहा गया है कि पठन-पाठन करते हुए, विद्वानों के सान्निध्य में वाणी के द्वारा ही हम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से ही ज्ञान प्राप्ति की यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चली रही है। हम सुन सुना कर, परस्पर बोल बता कर, संवाद द्वारा ही ज्ञान का आदान प्रदान करते हैं।

'सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' योगदर्शन

वह परमात्मा ही काल की सीमा से परे आदि गुरु कहाता है। सृष्टि के आरम्भ में सब गुरुओं के गुरु परमात्मा ने ही चार ऋषियों को जो ज्ञान दिया था उसी का नाम क्रमशः ऋग् यजु साम अथर्व है। इन्हीं चारों ऋषियों से सुनकर ब्रह्मा जी ने चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त किया था। इसीलिए वेद को श्रुति भी कहते हैं। इस प्रकार पढ़ने-पढ़ाने की यह क्रिया भूमण्डल में आज तक परंपरागत रूप में चली आ रही है। आदिम ज्ञानी पुरुष के रूप में अन्य भाषाओं में पाया जाने वाला अब्राहीम और इब्राहीम शब्द संभवतः ब्रह्मा शब्द का ही अपभ्रंश हो।

मन्त्र में तीसरी बात यह कही गई है कि ज्ञान के द्वारा ही मानव मन प्रकाशित होता है और जब मानव का मन व मस्तिष्क ज्ञान के प्रकाश से आलोकित हो जाता है तभी वह ज्ञान आचरण के रूप में प्रकट होता है। जब तक ज्ञान क्रिया में परिणत नहीं हो जाता तब तक उसकी सार्थकता भी सिद्ध नहीं हो सकती। मन को ज्ञान के द्वारा प्रकाशित कर उसे अच्छे-अच्छे कार्यों में संयुक्त करना चाहिए।

चौथी बात मन्त्र में यह बतलाई गयी है कि प्राचीन काल से मनुष्य की उन्नति के लिए ज्ञान कर्म और उपासना की साधन त्रयी का विधान चला आता है। दिव्य पुरुषों की सदा से यही परम्परा रही है। ज्ञान पूर्वक क्रिया करने के उपरान्त भी अकिंचन मनुष्य के लिए परमात्मा की सहायता की अपेक्षा होती है। इसलिए उसे निरन्तर प्रभु की उपासना करने का आदेश मन्त्र के अन्त में दिया गया है।

ज्ञान, कर्म और उपासना ही वे तीन पावन नदियाँ हैं जिनमें स्नान करके मनुष्य अपने जीवन को सुखी बना सकता है। धर्म का पहला साधन है ज्ञान। ज्ञान से ही मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य का बोध होता है और इस कर्तव्याकर्तव्य को जानने के लिए वेद विद्या का प्रणयन प्रभु ने अपनी अपार कृपा से हमारे लिए किया है। भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के पदार्थ प्रभु ने रचे हैं तो आनंद की प्राप्ति के लिए, ज्ञान की प्राप्ति के लिए वेद के रूप में ज्ञान का अथाह सागर भी प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा भूमण्डल में ज्ञान का प्रकाश फैला है और निरन्तर फैलता रहेगा।

सम् उपसर्ग के द्वारा यह बात स्पष्ट हो गई कि सम्यक् ज्ञान सम्यक् कर्म और सम्यक् उपासना ही धर्म की मुख्य सोपान हैं और इसकी प्राप्ति के लिए सं शब्द से दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि सम्यक् ज्ञान, कर्म और उपासना के लिए दूसरे मनुष्यों की सहायता भी अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका सर्वांगीण विकास सामाजिक वातावरण से ही सम्यक्तया हो पाता है अतः मनुष्य समाज के लिए संगठन का बहुत महत्व है।

सब मनुष्य परस्पर मिलजुल कर ही ज्ञान की प्राप्ति एवं वृद्धि कर पाते हैं। मिलजुल कर ही अच्छे अच्छे कर्मों को सम्पादित कर सकते हैं एवं परमात्मा की प्राप्ति के लिए भी संगठित रूप से पुरुषार्थ करके सिद्धि को प्राप्त कर सकते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि किसी उपासक के लिए सामाजिक सहयोग की क्या आवश्यकता है? इसके लिए हमें यह भली भाँति समझना होगा कि यदि समाज द्वारा संचित ज्ञान और सामाजिक पुरुषार्थ के फलस्वरूप मिलने वाली जीवन यापन की सुख सुविधाएँ उपलब्ध न हों तो मनुष्य की उपासना में भी अनेक प्रकार की विघ्न बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। इसलिए मनुष्य की व्यष्टिगत उन्नति के लिए भी समष्टि की अत्यन्त आवश्यकता है।

अतः इस मंत्र के द्वारा परमेश्वर ने उपदेश दिया हैं कि हे मनुष्यो ! वेद के माध्यम से जिस सत्य न्याययुक्त धर्म का प्रणयन मैंने किया हैं उसे तुम सब लोग मिलकर प्राप्त करो परस्पर विरोध को छोड़ कर संगठित रह कर आगे वढ़ो। जिस से तुम्हारे दुःखों में कमी हो और सुख की वृद्धि होती जाय।

धर्म के द्वारा सुख प्राप्ति का कितना श्रेष्ठ उपाय प्रभु ने वतलाया है और साथ ही उस बात का निर्देश किया हैं कि परस्पर मिल जुल कर रहने की भावना ही मानवता की उन्नति का मूल आधार है। वेद में वर्णित उस मानव धर्म की पहली शिक्षा यही है कि हम सब परस्पर स्नेह भाव से मिल जुल कर रहें। यदि मानव का संगठन छितरा जाता है तो निश्चय ही व्यक्ति की ज्ञान, कर्म, उपासना की साधना भी निष्फल रह जाती है।

विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ जव मानवता ने सव की उन्नति का उपाय सोचा है तव हमारा उत्कर्ष होता रहा है और विज्ञान का प्रयोग जब हमने एक दूसरे पर आधिपत्य जमाने और एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए किया है तभी युद्धों की ज्वालाएँ भड़की हैं और मानवता का पतन हुआ है और साथ ही साथ ज्ञान विज्ञान की भी क्षति हुई है। फलतः मानवता कराह उठती है एवं संसार अशान्ति की गोद में पड़कर विलखता हुआ दुःख सागर में डूब जाता है।

मिलजुल कर सामूहिक उन्नति करने का मंत्र ही धर्म का मूल स्वर है।

धर्मानुष्ठान के उपाय

- सब मिलजुल कर पठन-पाठन के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करें।
- ज्ञान के अनुसार आचरण करें।
- आचरण की पवित्रता के लिए ज्ञानियों का अनुकरण करते हुए परमात्मा की उपासना करें।

[२]

समानो मंत्र समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि

ऋग्. मं. १० सू. १९१ मं. ३

"समानो मन्त्रः – हे मनुष्य लोगो ! जो तुम्हारा मन्त्र अर्थात् सत्य असत्य का विचार है वह समान हो। उसमें किसी प्रकार का विरोध न हो और जब जब तुम लोग मिल-कर विचार करो तब तब सबके वचनों को अलग-अलग सुनके जो-जो धर्मयुक्त और जिसमें सबका हित हो सो-सो सब में से अलग करके उसी का प्रचार करो। जिससे सबों का बरा-बर सुख बढ़ता जाय।

समिति : समानी–जिसमें सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम अच्छे-अच्छे काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य के प्रबन्ध का यथावत् करना और जिससे बुद्धि, शरीर बल, पराक्रम आदि गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हों, ऐसी जो उत्तम मर्यादा हैं सो भी तुम सब लोगों की एक ही प्रकार की हो जिससे तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम सिद्ध होते जाएँ।

समानं मनः सहचित्तं – हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा मन भी आपस में विरोध रहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के

नाश और सुख की वृद्धि के लिए अपनी आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थ वाला हो। शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा संकल्प और दुष्ट गुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं। जिससे जीवात्मा ये दोनों कर्म करता है, उसका नाम मन है। उससे सदा पुरुषार्थ करो। जिससे तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो। तथा चित्त उसको कहते हैं, जिससे सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथावत् विचार हो। वह भी तुम्हारा एक सा हो जो तुम्हारे मन और चित्त हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख के लिए ही प्रयत्न में रहें। इस प्रकार से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देने वाले हैं मै उन्हीं पर सदा कृपा करता हूँ।

समानं मंत्रमभिमन्त्रये वः – मैं उनके लिए आशीर्वाद और आज्ञा देता हूँ कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चलें जिससे उनका सत्य धर्म बढ़े और असत्य का नाश हो।

समानेन वो हविषा जुहोमि – हे मनुष्य लोगो! जब-जब कोई पदार्थ किसी को दिया चाहो अथवा किसी से ग्रहण किया चाहो तब-तब धर्म से युक्त ही करो उससे विरुद्ध व्यवहार को मत करो। और यह बात निश्चय करके जान लो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूँ। इसलिए कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहो और इससे भिन्न को धर्म कभी मत मानो"।

इस मन्त्र में सामाजिक उन्नति के चार प्रकार बतलाये गये हैं। मनुष्य समाज की उन्नति धर्मानुसार आचरण करने से ही होती है और

धर्म वे नियम हैं, जिनके द्वारा समाज में समता, बन्धुता और सहायता का मार्ग प्रशस्त होता है अतः उन्नति के लिए परमात्मा, मनुष्य समाज को यह आदेश देते हैं कि तुम परस्पर मिल बैठ कर विचार किया करो।

मन्त्र नाम विचार का है। समय-समय पर इकट्ठे होकर धार्मिक विद्वान लोग आपस में सत्यासत्य का विचार किया करें। धर्म की उन्नत्ति के लिए यह प्रक्रिया आवश्यक है कि समय-समय पर ऐसी सभाएँ आयोजित की जाएँ जिसमें मनुष्य समाज की नाना विध समस्याओं पर विचार हो। विचारशील जन एकत्र होकर सामाजिक परिस्थिति एवं वातावरण के परिप्रेक्ष्य में नियमों का निर्धारण करें। इस प्रकार के सामाजिक नियमों का निर्धारण करने वाले सुयोग्य व्यक्तियों के समुदाय को समिति कहा जाता है।

सब विद्वान धार्मिक लोग विचार पूर्वक मानव समाज की उन्नति के लिए समय-समय पर ऐसे नियम बनायें जिससे सत्य का प्रचार हो और असत्य एवं अन्याय का नाश हो। ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों की सुव्यवस्था हो और समाज के भिन्न-भिन्न क्षमता वाले वर्ग अपने-अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक होकर, समान रूप से मानवता की सेवा में तत्पर रहें। यदि कहीं पक्षपात वश व्यक्ति या समुदाय पर अन्याय हो रहा हो तो उसका निराकरण भी अत्यन्त दृढ़तापूर्वक किया जाए।

जब नियमों का प्रतिपादन हो जाए तो तदनुकूल आचरण करने के लिए दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। आज भी मानव समाज के उत्थान के लिए अनेक संस्थाएँ बनी हुई हैं, जहाँ सब मिल बैठ कर मानव समाज की उन्नति के लिए अनेक विध योजनाओं को स्वीकार करते हैं। परन्तु उन योजनाओं के क्रियान्वयन के समय संकल्प की दृढ़ता न होने के कारण उसके लाभकारी परिणामों से समाज वंचित रह जाता है। अतः इस मन्त्र में परमात्मा हमें आदेश देते हैं कि शुभ गुणों के ग्रहण करने में और निश्चय किए हुए विचारों को समाज में

क्रियान्वित करने के लिए तुम सबके मन दृढ़-संकल्प वाले हों। अहित-कारी कार्यों के परित्याग एवं प्रतिकूल मार्ग पर न चलने के लिए भी दृढ़ संकल्प की आवश्यकता होती है। अतः हम सब के मन समान रूप से दृढ़ संकल्प वाले हों जिससे मानव जाति की हितकारी योजनाओं को प्रतिज्ञा पूर्वक क्रियान्वित किया जा सके। आवश्यकता इस बात की है कि मानव समाज अनुशासित हो कर नियमों के पालन में मन वचन कर्म से तत्पर रहे।

मन्त्र में तीसरी बात यह बतलाई गयी है कि मनुष्य को विचार करने का सामर्थ्य इसीलिए प्रदान किया गया है कि वह सदा सत्यासत्य का विवेव पूर्वक निर्णय करके धर्म की वृद्धि और अधर्म के नाश में सदा प्रयत्नशील रहे। यदि हमारा पुरुषार्थ अभिमन्त्रित अर्थात् सत्य से पुष्ट और विचारों से मन्थित न हो तो हमारे सारे संकल्प और विकल्प निष्फल हो जायेंगे और समाज की उन्नति का मार्ग प्रशस्त न हो सकेगा।

मन्त्र के अन्तिम भाग से स्पष्ट होता है कि संसार में प्रत्येक मनुष्य को मनुष्य जन्म के रूप में उन्नति करने का समान अवसर प्रदान किया गया है। सभी मनुष्यों को इस प्रकार का सामर्थ्य दिया गया है कि वे सत्यासत्य के भेद को जान कर अपने मन एवं बुद्धि को प्रकाशित कर सकें।

हमारा आदान प्रदान का व्यवहार सर्वथा निश्छल और निष्क-पट होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो समाज सुख से वंचित रहेगा। सामाजिक प्राणि होने के नाते मनुष्य पारस्परिक लेन देन के व्यवहार के बिना जीवन निर्वाह नहीं कर पाता। आदान प्रदान की यह प्रक्रिया ही व्यक्ति को सामाजिक बनाती है।

परमात्मा ने सब के लिए अन्न, जल, पृथ्वी, वायु, प्रकाश आदि का दान अविच्छिन्न रूप से किया है। यदि मनुष्य समाज परमात्मा के दिये हुए इस दान का मिल जुल कर उपभोग नहीं करेगा तो उसका

यह आचरण धर्म के प्रतिकूल होगा। क्योंकि वेद का यह आदेश है कि ईश्वर प्रदत्त पदार्थों का वितरण व उपभोग समाज में व्यक्ति की आवश्यकतानुसार समान रूप से होना चाहिए।

इससे यह सिद्ध होता है कि वेद की दृष्टि में समस्त भूमण्डल एक परिवार है और इस परिवार के संचालन के लिए समूचे विश्व में एक ही प्रकार की शासन व्यवस्था का विधान किया गया है जिसे हम World Government या विश्व शासन समिति कह सकते हैं। विश्व में सब देश सह अस्तित्व की भावना से संयुक्त होकर न्याय का मार्ग प्रशस्त करें। सत्य और न्याय का आचरण ही धर्म का आधार है और धर्म का यथावत् परिपालन निष्पक्ष शासन के द्वारा ही सम्भव है। आज जब विश्व परिवार अनेक राष्ट्रों के रूप में विभक्त है तो आवश्यकता इस बात की है कि इन सब राष्ट्रों में परस्पर, सहयोग की भावना को बढ़ावा दिया जाय।

इस मंत्र में मनुष्य समाज को निष्पक्ष होकर न्याय और सत्याचरण रूपी धर्म मार्ग पर चलने का उपदेश किया गया है।

धर्मानुष्ठान के प्रकार

- विचार करने के लिए समितियों का निर्माण किया जाए।
- समितियों के द्वारा नियमों का निर्धारण हो।
- मनुष्य समाज नियमों के अनुशासन में चले।
- परमात्मा की दी हुई वस्तुओं का प्रेम से मिलजुल कर उपभोग करें।

[३]

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति

ऋ. मं. १० सू. १९१ मं. ४

समानी व आकूतिः – हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उसको धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो । निश्चय, उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं । हे मनुष्य लोगो ! तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिए सदा हो जिससे मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो और सदा वैसे ही प्रयत्न करते रहो कि जिससे "समाना हृदयानि वः" तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेम सहित और विरोध से अलग रहें ।

समानमस्तु वो मनः – मनः शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिससे मन के अनेक अर्थ जाने जाएँ ।

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृति ह्री धी भी रेत्येतत् सर्वं मन एवं तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसाविजानाति –शतपथ

कामः – प्रथम विचार ही करके सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इसका नाम काम है।

संकल्प – जो सुख और विद्यादि शुभ गुणों को प्राप्त होने के लिए प्रयत्न से अत्यन्त पुरुषार्थ करने की इच्छा है उसको संकल्प कहते हैं।

विचिकित्सा– जो जो काम करना हो उस-उस को प्रथम शंका करके ठीक निश्चय करने के लिए जो सन्देह करना है उसका नाम विचिकित्सा है।

श्रद्धा– जो ईश्वर और सत्य धर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उसको श्रद्धा जानना अश्रद्धा– अर्थात् अविद्या कुतर्क बुरे काम करने ईश्वर को न मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिए।

धृतिः – जो सुख, दुःख, हानि, लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ता उसका नाम धृति है।

अधृति– बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति।

ह्रीः – झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मन को लज्जित करता है, उसको ह्री कहते हैं।

धीः – जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है उसे धीः कहते हैं।

भीः – जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते

रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जान कर उससे सदा डरना कि जो मैं पाप करूँगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुण वाली वस्तु का नाम मन है। इसको सब प्रकार से सबके सुख के लिए युक्त करो।

यथा वः सुसहासति – हे मनुष्य लोगो! जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों के उत्तम सुख की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब दिन करते रहो। किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो किन्तु सबको सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो। जिस प्रकार से स्वाधीन हो के सब लोग सदा सुखी रहें वैसा ही यत्न करते रहो"।

मानवता की उन्नति में सब का पुरुषार्थ उत्साह समान रूप से बढ़ता रहे। धर्म को बढ़ाने में और अधर्म को घटाने में सबको मिल-जुल कर उत्साह से प्रयत्न करना चाहिए। अन्यथा शुभ गुणों का लोप होकर असत्य व्यवहारों की वृद्धि से मानव समाज में अशान्ति फैलती है। हमारे पुरुषार्थ और प्रयत्नों के साथ-साथ हम सब के दिलों में प्रेम की भावना भी भरी हुई होनी चाहिए। परस्पर हृदयों में प्रेम की भावना बद्ध मूल न होगी तो हमारा प्रयत्न सफल नहीं हो सकता इसीलिए अपने मनों में सत्य के लिए श्रद्धा असत्य के लिए अश्रद्धा, अच्छे कामों में पुरुषार्थ बुरे कामों की उपेक्षा आदि के द्वारा हमें पवित्र मन से सब कार्य करने चाहिए। हमारे प्रयत्नों का एकमात्र उद्देश्य समाज में सुखों की वृद्धि होना चाहिए। सबको मिल-जुल कर ऐसे कर्म करने चाहिए जिससे मानव समाज में सुखों की वृद्धि हो। सब दुखों से छूटकर एक दूसरे के सहायक बन कर प्रसन्नता से जीवन यापन करें। किसी दुःखी

को देखकर खुश न हों अपितु उसके दुःख को दूर करने में सचेष्ट हो जाएँ।

करुणा धर्म का मूल आधार है। मनुष्य के हृदय में करुणा की धारा प्रवाहित होनी चाहिए तभी वह किसी दुःखी को देख कर उसके कष्ट निवारण के लिए सचेष्ट होगा। प्रायः यह देखा जाता है कि एक समूह दूसरे समूह को या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपना दास बना कर उन पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं। ऐसा करना अधर्म है। परमात्मा सारी सृष्टि का राजा है हम सब उसकी प्रजा हैं ऐसा विचार कर कभी किसी की स्वतंत्रता छीन कर उसे दुःख नहीं देना चाहिए। मंत्र में उपदेश दिया गया है कि 'यथा वः सुसहासति' तुम सदा समाज में परस्पर प्रेम के वातावरण का निर्माण करो। मनुष्य जिस प्रकार का व्यवहार अपने लिए नहीं चाहता वैसा व्यवहार उसे दूसरे के प्रति भी नहीं करना चाहिए। सुख-दुःख हानि-लाभ मान-अपमान में अपनी आत्मा के तुल्य सब मनुष्यों को समझ कर न्यायपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। हमारा कोई कार्य या व्यवहार ऐसा न हो जिससे मनुष्य समाज में दुःख फैले। इसके विपरीत दुःखियों के दुख दर्द को बाँटने का भाव हमारे मन में जगना चाहिए।

मनुष्य का जन्म पाकर भी यदि हम पशुओं की तरह बलवान होकर निर्बलों पर अत्याचार करें या उनकी स्वतंत्रता छीन कर उन्हें दासवृत्ति अपनाने पर विवश करें तो यह मनुष्यपन के विरुद्ध है। अतः सब मनुष्य परस्पर एक दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति का परित्याग करें और एक दूसरे के प्रति प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा, सहयोग की भावनाओं को जन्म दें तो हमारा मानव परिवार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श के अनुसार एक पारिवारिक प्रेम के सूत्र में आबद्ध हो सकता है। परस्पर प्रेम व दूसरे के दुःख में दुःखी होकर दुःख निवारण के उपाय में तत्पर हो जाना ही मानव-धर्म है।

- शुभ कार्यों में उत्साहित होकर पुरुषार्थ करें।
- हृदयों में प्रेम भरा हो।
- मिल-जुल कर सत्य मार्ग पर चलने के संकल्प करें।
- ऐसे कार्य करें जिससे मानव समाज में स्वतंत्रतापूर्वक सुखों की वृद्धि और दुःखों का क्षय हो।

× × ×

मनुष्यपन

जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है—बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा कर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना।

जो मनुष्य ऐसा स्वभाव रखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शंका न करके इनको पर-पीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन मन और धन से सदा करता है वही मनुष्य जाति का निज गुण है क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य के कामों के करने में किञ्चित् भी भय शंका नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।

व्यवहार भानु—ऋषि दयानन्द

[४]

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः

यजु. अ. १९ मं. ७७

"प्रजापति परमेश्वर जो सब जगत का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिए धर्म का उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्य में ही प्रीति करनी चाहिए असत्य में कभी नहीं। सब जगत् का अध्यक्ष जो ईश्वर है सो सत्यानृते–सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है जिनके प्रकट और गुप्त लक्षण हैं।*

व्याकरोत्– उनको ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ विद्या के ठीक ठीक विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग-अलग किया है सो इस प्रकार से है कि अश्रद्धाम–हे मनुष्य लोगो! तुम सब दिन अनृत अर्थात् झूठ अन्याय के करने में अश्रद्धा अर्थात् प्रीति कभी मत करो वैसा ही श्रद्धाꣳस–सत्य अर्थात् जो वेद शास्त्रोक्त और जिसकी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षा की गई

---

* जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ सम्बन्ध रखता है वह प्रकट और जितना आत्मा के साथ सम्बन्ध रखता वह गुप्त है।

हो यश की जाए वही पक्षपात से अलग न्यायरूप धर्म है उसके आचरण में सब दिन प्रीति रखो और जो-जो तुम लोगों के लिए मेरी आज्ञा है उस-उसमें अपनी आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ।"

इस मंत्र में स्पष्ट रूप से धर्माधर्म का विवेचन किया गया है परमात्मा ने अपनी सर्वज्ञता से इस संसार में कार्यों का दो प्रकार का रूप बतलाया है । जो जैसा है उसे वैसा ही मानना सत्य और जो जैसा है उसे अन्यथा रूप में प्रस्तुत करना असत्य । सत्य को जानना, मानना तदनुसार आचरण करना ही धर्म है और अपने स्वार्थवश किसी को भ्रम में डाल कर वस्तु स्थिति को छिपा कर अन्य रूप में प्रस्तुत करना ही अधर्म कहाता है । सार्वभौम धर्म सत्य पर ही टिका हुआ है वेद में स्पष्ट कहा है—'सत्येनोत्तभिताभूमिः' अर्थात् यह भूमि सत्य पर ही आधारित है । संसार में इतने मत मतान्तर फैले हैं पर सत्याचरण करने के बारे में सब एक मत हैं परन्तु हम स्वार्थी और पक्षपाती बन कर अपने झूठ को भी सत्य बताते और दूसरे के सत्य को भी झूठ सिद्ध करने में प्रयत्नशील हो जाते हैं । यहीं से धर्म अधर्म का संघर्ष प्रारंभ होता है ।

यजुर्वेद धर्म के आचरण का सम्यक् उपाय बतलाता है । ज्ञान पूर्वक नियमों का आचरण ही धर्म है । जो जैसा है वैसा ही मानना सत्य एवं न्याय बुद्धि और पक्षपात रहित आचरण करना ही धर्म का व्याव-हारिक और सत्य स्वरूप है । प्रजापति ने हमारे हृदयों में स्वाभाविक रूप से सत्य पर विश्वास और असत्य पर अविश्वास का भाव भर दिया है । इसलिए असत्य को भी प्रस्तुत करने के लिए सत्य का आवरण चढ़ाना आवश्यक हो जाता है । असत्य के रूप में कभी भी असत्य को

कोई स्वीकार नहीं करता। झूठ के प्रति छोटे से बालक के मन में भी अनायास ही विश्वास नहीं जम पाता। जैसे को तैसा कहने की प्रवृत्ति बाल्यकाल से ही स्वाभाविक रूप में देखी जा सकती है। इसी प्रवृत्ति को विकसित करते हुए हम धर्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

धर्मानुष्ठान का सूत्र

व्यक्ति को चाहिए कि वह सत्य और न्याय में श्रद्धा करे असत्य अन्याय में अश्रद्धा करे।

× × ×

धर्म और अधर्म की परिभाषा हैं ?

- जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा-पालन, परोपकार करना रूप 'धर्म' जो इससे विपरीत वह 'अधर्म' कहाता है।

× × ×

- जिस जिस कर्म को करने में अपनी आत्मा को शंका लज्जा और भय नहीं होता है वह वह धर्म किसी को विदित नहीं होता ? जो कोई विरोध अर्थात् आत्मा में कुछ वाणी में कुछ भिन्न और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी। जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी में जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है वह धर्मात्मा है।

व्यवहार भानु—ऋषि दयानन्द

[५]

दृते दृ ँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे । य. अ. ३६ मं. १८

"इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेम भाव से सब दिन वर्तें और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें और वेद रीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो ।

दृते – हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़कर एक दूसरे के साथ प्रेमभाव से वर्तें ।

मित्रस्य मा चक्षुषा – सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानके बन्धु के समान वर्तें ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को दृ ँह–सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइए ।

मित्रस्याहं – इसी प्रकार मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपनी आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं ।

मित्रस्य चक्षुषा – हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्र भाव रखें और सत्य धर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें।

जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने योग्य है।"

यजुर्वेद के माध्यम से दिए हुए इस अमूल्य उपदेश को महर्षि ने कितनी उत्तमता से सार्वभौम धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है। जब मानवता धर्म से विमुख होती है तब उसमें परस्पर शत्रुता के भाव बढ़ते हैं और जब मानव धर्माभिमुख होता है तो उसके हृदय में प्राणि-मात्र के लिए प्रेम की भावना, मित्रता की भावना उद्भूत होती है। अहा ! वेद माता के इस पावन उपदेश को यदि हम हृदयंगम करें तो धर्म के नाम पर होने वाले आपसी कलह, युद्धादि उपद्रवों के प्रति मानव का हृदय ग्लानि से भर जाए।

वेद में वर्णित धर्म में प्राणिमात्र के प्रति दया की भावना धर्म के उदात्त स्वरूप को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। किसी जाति, भाषा, वर्ण, देश, काल, वर्ग, समाज यहाँ तक कि मनुष्य से भी ऊपर उठ कर प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखने का यह सन्देश सर्वथा अद्वितीय एवं अनुपम है। इस धर्म में घृणा, द्वेष, हिंसा का लवलेश भी नहीं मिलता। परमात्मा ने इस सृष्टि को सोद्देश्य बनाया है। एक छोटे कृमि से लेकर मनुष्य तक सब प्राणी अपनी पृथक्-पृथक् उपयोगिता को लिए हुए हैं। अतः अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी की हिंसा करना महापाप कहाता है। इसीलिए प्राणि मात्र को मित्र की दृष्टि से देखना और यथायोग्य व्यवहार अर्थात् बिना हानि पहुँचाए जिस-जिस प्राणी से जो-जो उपयोग संभव हो, मित्र भाव से उसे प्राप्त करना धर्म का एक आधार भूत अंग है। इसके विपरीत जिह्वा के स्वाद के लिए

किसी निर्बल प्राणी को मार कर अपनी उदर पूर्ति करना निकृष्टतम कार्य है। लोभ सब पापों की जड़ है। मित्रता में तो हानि पहुँचाने की भावना भी त्याज्य है फिर किसी का वध करना तो बहुत ही जघन्य कार्य है।

इस संसार में परमात्मा ने सब प्राणियों में उत्तम श्रेष्ठ एवं ज्येष्ठ प्राणी के रूप में मानव का निर्माण किया है। जिस प्रकार परिवार का मुखिया परिवार के अन्य सदस्यों की भलाई व उन्नति में तत्पर रहता है इसी तरह का उत्तरदायित्व मानव पर भी है। मनुष्य अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर जब प्राणियों की हिंसा करने लगता है तो एक ओर वह कर्तव्यच्युत होने का अपराधी बन जाता है और दूसरी ओर प्रभु की बनाई सृष्टि को तहस-नहस करने के पाप का भी भागी हो जाता है। ईश्वर ने नाना प्रकार के प्राणी मनुष्य समाज के सहयोग के लिए बनाए हैं। चींटी से लेकर हाथी तक, सभी प्राणी किसी न किसी रूप में अपनी विशेषता रखते हैं। उनके गुणों को न जान लोभवश या मनोरंजन के लिए उन्हें पीड़ा पहुँचाना महान् अधर्म का कार्य है। कई मतों में धर्म के नाम पर देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं की बलि दी जाती है यह सर्वथा पाप एवं क्रूर कर्म है। वैदिक धर्म में प्राणी की हिंसा हेय मानी गई है। जीवों के प्रति करुणा ही हममें मित्रता के भाव उद्बुद्ध करती है। परमेश्वर की सृष्टि में हर प्राणी को जीने का पूर्ण अधिकार है उस अधिकार को नष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। किसी भी प्रकार से किसी प्राणी की हिंसा करना सर्वथा अधर्म है। मानव जाति में बढ़ती हुई हिंसा ही समाज में अशान्ति को जन्म देती है। प्रभु की व्यवस्था को न समझ कर हम स्वार्थवश हिंसा के कार्य करने लगते हैं तभी मानवता विनाश के कगार पर जा खड़ी होती है।

दुःखों से बचने का यही एक सुन्दर उपाय है कि हम सब प्राणियों में मित्रता का भाव रखें। यदि कोई व्यक्ति या समूह विपरीत

आचरण करे तो भी हम मित्रवत् समझा बुझाकर उसे सत्पथ पर लावें। एक दूसरे के प्रति द्वेष और कटुता का भाव न फैलावें। ऐसा करना वातावरण को दूषित कर देता है और तभी हम मित्रता रूपी धर्म से दूर हटकर शत्रुता रूपी अधर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं।

धर्मानुष्ठान का आधार

- धर्म को धारण करने के लिए हम प्राणिमात्र में मित्रता की भावना दृढ़ करें।
- हमारा व्यवहार अन्य प्राणियों के प्रति ऐसा हो कि सब प्राणी हमें मित्रता की दृष्टि से देखें।
- स्वार्थवश या लोभ के वशीभूत किसी प्राणी की हिंसा न करें।

[६]

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि । य. अ. १ मं. ५

"इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें क्योंकि उसके सहाय के बिना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उसका अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता ।

हे सत्यपते परमेश्वर ! (व्रतम्) मैं जिस सत्य धर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूँ उसकी सिद्धि आपकी कृपा से ही हो सकती है । इसी मंत्र का अर्थ शतपथ ब्राह्मण में भी इस तरह लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आचरण रूप व्रत को करते हैं वे देव कहाते हैं और जो असत्य का आचरण करते हैं उनको मनुष्य कहते हैं, इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूँ ।

तच्छकेयं – मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं सत्य धर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूँ ।

तन्मे राध्यताम् – उस अनुष्ठान की सिद्धि करने वाले एक आप ही हो सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिए सिद्ध कीजिए ।

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि — सो यह व्रत है कि जिसको मैं निश्चय से चाहता हूँ। उन सब असत्य कार्यों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूँ।

परन्तु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रक्खा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें। उसके उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिए। क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिए। जैसे कोई मनुष्य आँख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है अन्धे को नहीं, इसी रीति से जो मनुष्य सत्यभाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है अन्य पर नहीं। क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिए बुद्धि आदि बढ़ने के साधन जीव के साथ रक्खे हैं। जब जीव उनसे पूर्ण पुरुषार्थ करता है, तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है अन्य पर नहीं। क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और उनके फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं।"

धर्म के आचरण के लिए मनुष्यों को सत्य जानना, सत्य मानना और सत्याचरण करना बहुत आवश्यक है। इसलिए मनुष्य को बार-बार सत्य मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए। झूठ से हट-कर सत्य का पालन करना सरल कार्य नहीं है। इस सत्यव्रत रूपी धर्मानुष्ठान के लिए हमें प्रभु की शरण जाना आवश्यक होता है। पर-मात्मा की उपासना से भक्त में संकल्प की दृढ़ता जागृत होती है, सत्याचरण के लिए उसमें उत्साह जगता है। परमात्मा के सान्निध्य में

बैठना, पवित्रता के लिए प्रभु की उपासना करना भी एक अनिवार्य व्रत है।

प्रायः सभी मतों में किसी न किसी रूप में उपवास व्रतों का प्रचलन है। उपवास का अभिप्राय अधिकतर भूखा रहना या कुछ विशिष्ट प्रकार के पदार्थों का भोग करना मात्र रह गया है। जब कि उपवास या व्रत का वास्तविक अभिप्राय भौतिक भोगों से दूर रह कर एक निश्चित समय में परमात्मा के ही ध्यान में मग्न रहना है, उस प्रभु के निकट बैठना ही सच्चा उपवास व्रत या उपासना कहाती है।

इस प्रकार उपवास के अनुष्ठान से निरन्तर सत्य के प्रति हमारा अनुराग बलवत्तर होता चला जाता है। सत्य के प्रति अगाध निष्ठा और तदनुकूल आचरण ही हमारी आत्मा में पवित्रता और शक्ति का संचार करता है। इसके प्रतिकूल असत्याचरण से आत्मा में मलिनता और कायरता के भाव जन्म लेते हैं।

सभी मतों में सत्य का स्थान सर्वोपरि है निर्विवाद रूप से सत्य के अनुष्ठान के लिए सभी सहमत हैं। अतः धर्म के इस आधारभूत अंग सत्याचरण में दृढ़ होना ही धार्मिक बनने का उपक्रम है। मानव समाज सत्य को अपना कर ही धर्म के पथ का पथिक बन सकता है। सत्य का यह अमर सन्देश मनुष्य को दिव्यत्व की ओर ले जाने वाला है। हमारा आचरण जितनी अधिक मात्रा में सचाई को अपनायेगा उतने ही हम दिव्य बनते जाएँगे। सत्य के आश्रय से ही मनुष्य देव संज्ञा को प्राप्त करता है। सत्य व्रतों को छोड़कर मानव समाज में प्रायः अनेक असत्य व्रतों का आश्रय लिया जाता है, जिससे धर्म के क्षेत्र में उन्नति रुक जाती है। हमें दिन प्रतिदिन आत्म चिन्तन करते हुए अपने को टटोलना चाहिए कि हम किस मात्रा में सत्य के व्रत का अनुष्ठान कर पा रहे हैं। मानव सत्य के व्रत पर दृढ़ होकर ही धर्म का अनुष्ठान करने में समर्थ होता है।

इस मन्त्र में सत्य पालन के संकल्प पर बल देते हुए उसकी सिद्धि का उपाय भी बतलाया गया है। मन्त्र परमपिता परमात्मा को व्रतपति कहकर सम्बोधित करता है। प्रभु स्वयं व्रतशील हैं और व्रतों के पालन करने वाले मनुष्य की सहायता में सदैव तत्पर रहते हैं। क्योंकि सत्य का व्रत महाव्रत है अतः इसके अनुष्ठान के लिए परमात्मा की उपासना अत्यावश्यक है। प्रातः सायं दिन और रात्रि की सन्ध्या में उस प्रभु के चरणों में बैठकर उससे प्रार्थना करनी चाहिए कि हे प्रभो! आप ही मेरे व्रतानुष्ठान में सहायक सिद्ध हो सकते हो। आपकी कृपा से मैं निरन्तर सत्यव्रत का पालन करते हुए अपने जीवन को दिव्य बनाता जाऊँ। निरन्तर की हुई इस प्रकार की उपासना धर्म का मार्ग प्रशस्त करती है। मनुष्य का मन अधर्माचरण से हटकर धर्म में प्रवृत्त होता चला जाता है। सत्यव्रत के अनुष्ठान से आत्मिक उन्नति में आशातीत सफलता प्राप्त होती है।

धर्मानुष्ठान का मूल स्वर

- सत्य ही धर्म का आधार है।
- सदा असत्य से दूर रहकर सत्य का आचरण करें।
- सत्य पथ पर दृढ़ता से चलने के लिए प्रभु से सहायता माँगें।

[७]

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते

यजु. १९-३०

"जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है। उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिए असत्य में कभी नहीं। जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के फल को प्राप्त होता है। जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उसका सत्कार करते हैं। क्योंकि धर्म आदि शुभ गुणों से ही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यन्त सत्कार होता है तब उसी में दृढ़ विश्वास होता है, क्योंकि सत्य धर्म का आचरण ही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है। फिर सत्य के आचरण में जितनी-जितनी अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना-उतना ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं, अधर्माचरण से नहीं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिए सब दिन श्रद्धा और उत्साह

आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ाते हो जाएँ, जिससे सत्य धर्म की यथावत प्राप्त हो"।

मनुष्य को धर्मात्मा बनने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन में अच्छे-अच्छे व्रतों को धारण करे। अपने मन को दुराचरण से हटा कर सत्याचरण की ओर प्रवृत्त करे। जब तक सत्य के प्रति श्रद्धा और असत्य के प्रति घोर अश्रद्धा दृढीभूत नहीं हो जाती तब तक धर्म के मार्ग पर अग्रसर होना कठिन होता है। धर्म पर चलने वाले व्यक्ति के मन में इस बात का दृढ विश्वास होना चाहिए कि सत्य मार्ग पर चलना ही सुख प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है। जब इस तरह का विश्वास हृदय में जम जाता है तब आत्मिक उन्नति के मार्ग खुलने लगते हैं।

सत्याचरण के द्वारा व्यक्ति उत्तमोत्तम गुणों को धारण करता हुआ सद्गुणों से दीक्षित होकर समाज में सन्मान का पात्र बन जाता है। यह सन्मान उसमें गर्व की भावना की अपेक्षा नम्रता की भावना को जन्म देता है क्योंकि वह जानता है कि धर्माचरण ही मनुष्य के इह-लोक और परलोक के सुखों का मूल कारण है। धर्म की शक्ति से उसमें अलौकिक शक्ति का स्फुरण होता है और वह विनम्र व्यक्ति अन्ध विश्वासी नहीं सत्य मार्ग का दृढ़ विश्वासी बन जाता है। उसके तेज के सन्मुख शत्रुओं का पराभव होने लगता है। संसार का इतिहास ऐसे कठोर सत्यव्रती महान् पुरुषों की उज्ज्वल गाथा से भरा पड़ा है। ऐसे सत्यव्रती न केवल अपने युग में पूजे जाते हैं वरन् आने वाले युगों-युगों तक उनकी यशो गाथा मानव जाति के लिए प्रेरणा-स्रोत बन जाती है।

जीवन में सत्य व्रतों का धारण करना असिधारा पर चलने के समान दुष्कर कार्य है। परन्तु ऐसे कठिन व्रतों पर चल कर धर्मात्मा व्यक्ति आग में तपे हुए स्वर्ण के समान कुन्दन बन कर निकलते हैं।

उनकी कीर्ति दिग् दिगन्त में गुंजायमान होने लगती है। मानव जाति में उत्साह और पुरुषार्थ की मात्रा बढ़ा कर अपने जीवन से जीवन दीप जलाने वाले इन महात्माओं ने ही धर्म की ध्वजा फहराई है। समय-समय पर धर्म की ज्योति पर शलभ की तरह बलिदान होने वाले ऐसे नर पुंगवों के कारण ह्रासोन्मुख धर्म फिर सूर्य की तरह भास्वान् होने लगता है। मुरझाया हुआ धर्म फिर फलने-फूलने लगता है।

इस मंत्र में जीवन की उन्नति का क्रम बतलाया गया है। आत्मिक ऊंचाई पर पहुँचने के इच्छुक व्यक्ति जीवन में सत्य संकल्पों को धारण करें। संकल्पों में दीक्षित होकर ही वे सन्मान रूपी दक्षिणा को प्राप्त करते हैं। सन्मान के उच्च शिखर पर चढ़ कर व्यक्ति धर्म में श्रद्धा को और दृढ़ीभूत करता है यह श्रद्धा उसे सत्य के उच्चतम शिखर पर चढ़ा कर लोक में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करती है और संसार में एक नये आलोक को जन्म देती है।

धर्मानुष्ठान का पथ

- सत्य के आचरण के लिए दृढ़ संकल्प करना चाहिए।
- संकल्प से व्यक्ति उत्तम गुणों का अधिकारी बनता है।
- सत्कार एवं सन्मान धर्म के प्रति श्रद्धा के भाव जगाते हैं।
- श्रद्धा के द्वारा ही धर्म का मार्ग प्रशस्त होता है।
- धर्माचरण से ही आत्मिक उन्नति का पथ आलोकित होता है।

यजुर्वेद के मंत्रों द्वारा धर्म का क्रियात्मिक रूप प्रस्तुत कर आगे महर्षि अथर्ववेद के मंत्रों द्वारा धर्म के लक्षणों पर प्रकाश डालते हैं—

[८]

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिताः
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृताः ।

अथर्व. का: १२ अनु. ५ मं. १-२

"इन मंत्रों में धर्म के लक्षण प्रकाशित किये गये हैं–

श्रमेण – श्रम अर्थात् परम प्रयत्न का करना और तपः अर्थात् जो धर्म का आचरण करना ।

तपसा – श्रम और तप से परमात्मा ने सब सृष्टि की और जीवों को रचा है ।

ब्रह्मणा – इसीलिए ब्रह्म जो वेद विद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य अपने-अपने ज्ञान को बढ़ावें ।

ऋतेश्रिता – सब मनुष्य ऋत जो ब्रह्म सत्य विद्या की प्राप्ति में सदा पुरुषार्थ और धर्माचरण आदि शुभ गुणों का सेवन करें ।

सत्येनावृता – सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों ।

श्रिया प्रावृता – हे मनुष्य लोगो ! तुम शुभ गुणों से प्रकाशित हो कर चक्रवर्ती राज्यादि ऐश्वर्य को सिद्ध करके उसको चारों ओर पहन के शोभित हों ।

यशसा परीवृता: – सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण करके सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिए।"

[>] अथर्ववेद के इन मंत्रों में धर्म के लक्षणों का उल्लेख कितना सारगर्भित है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से श्रम को धर्म का एक अंग घोषित किया गया है। क्योंकि आलस्य धर्मानुष्ठान में सबसे बड़ी बाधा है। कहा भी गया है कि "आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपु" आलस्य ही मनुष्यों का महान् शत्रु है। आलसी व्यक्ति कभी धर्मात्मा नहीं बन सकता। धर्म के आचरण में श्रम अर्थात् पुरुषार्थ और तप अर्थात् कष्ट सहन की प्रवृत्ति होनी चाहिए। धर्म के आचरण में निरन्तर सावधानी से प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ना होता है। जिस प्रकार एक विद्यार्थी या व्यापारी अपनी विद्या और धन के अर्जन के लिए निरन्तर पुरुषार्थ करता है तभी उसे प्राप्त कर सकता है। इसी तरह धर्म को प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य को सतत प्रयत्नशील होना चाहिए।

धर्म के मार्ग पर चलते हुए जो कष्ट हमारे सन्मुख आ जाते हैं उन्हें सहन करना ही तप है। तपस्या से घबरा कर धर्म का परित्याग जीवन की सबसे बड़ी कायरता है। क्योंकि किसी भी कार्य की सफलता के लिए मनुष्य को कष्ट सहने ही होते हैं।

स्वयं परमात्मा ने इतनी बड़ी सृष्टि का निर्माण श्रम और तप से ही किया है। इसलिए हमें भी अपने जीवन को तपोमय और श्रमशील बनाना चाहिए। धर्माचरण के लिए तप और श्रम अत्यावश्यक है। श्रम और तप के द्वारा मनुष्य को सत्यज्ञान का ग्रहण और प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

जो मनुष्य मानव जन्म को प्राप्त कर प्रभु की और विद्या की प्राप्ति में पुरुषार्थ नहीं करते उनका जन्म व्यर्थ हो जाता है अतः प्रयत्न-

पूर्वक अपने जीवन में इनकी सिद्धि करनी चाहिए। ज्ञान और भक्ति दोनों धर्म के अंग हैं इन्हीं की सिद्धि से धर्म की सिद्धि होती है जिसका फल हमें धन, यश और श्री अर्थात् शोभा के रूप में प्राप्त होता है।

धर्मानुष्ठान की साधना

- धर्मानुष्ठान के लिए सतत पुरुषार्थ करें।
- तप से ही धर्माचरण की सिद्धि होती है।
- सत्य विद्या की प्राप्ति ही धर्म है।
- परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना आत्मा का परम धर्म है।
- धर्म का उत्तम फल हमें यश धन और श्री के रूप में प्राप्त होता है।

[९]

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥
ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ अथर्व. का. १० अनु. ५ मं. ३–७

"स्वधया – सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा–अर्थात् अपने ही पदार्थों का धारण करें। इस अमृत रूप व्यवहार से सदा युक्त हों।

श्रद्धया पर्य्यूढा – सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हों। क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल तथा सत्य का आचरण ही उसका फल और स्वरूप है असत्य कभी नहीं।

दीक्षया गुप्ता – विद्वानों की सत्य शिक्षा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्यादि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करो।

यज्ञे प्रतिष्ठिता – यज्ञ जो सब में व्यापक परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्प विद्या सिद्ध करके उपकार लेना जो यज्ञ है इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें।

लोको नियमम् – जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म में ही पुरुषार्थ करते रहो। किन्तु इसमें आलस्य कभी मत करो। ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिए है।

ओजश्च – धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम।

तेजश्च – प्रगल्भता अर्थात् भय रहित होकर दीनता से दूर रहना।

सहश्च – सुख दुःख हानि लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ कर सत्य धर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना।

बलं च – ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना।

वाक् च – सत्य विद्या की शिक्षा, सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण करना।

इन्द्रिय च – जो मन पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय हैं उनको पाप कर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना।

श्रीश्च – चक्रवर्ती राज्य की सामग्री को सिद्ध करना।

धर्मंश्च – जो वेदोक्त न्याय से युक्त हो के पक्षपात को छोड़ के सत्य ही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करता है तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिसका फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है उसी को धर्म और

उसमें उलटा करने को अधर्म कहते हैं। उसी धर्म की यह सब व्याख्या है।"

धर्म के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि जो मनुष्य धर्म पर आचरण करना चाहता है उसे चाहिए कि वह अपने ही पदार्थों का उपभोग करे। दूसरों की वस्तुओं पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न न करे यही व्यवहार उसके लिए हितकारी है। मनुष्यों के हृदय में इस बात का दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि सत्य व्यवहार से ही हम लोग सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। संसार में अशान्ति का मूल कारण छल-कपट अन्याय युक्त व्यवहार से दूसरों का शोषण करना ही है। इस सत्य व्यवहार को सीखने के लिए हमें विद्वानों के समीप जाकर उनसे शिक्षा और दीक्षा लेनी चाहिए। यह सत्य व्यवहार ही मनुष्यों का रक्षक है ऐसा व्यवहार ही एक दूसरे के प्रति विश्वास उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होता है। इसी तरह हमारे जीवन के सब कार्य परोपकार को लक्ष्य में रख कर संपन्न होने चाहिए। यज्ञ की भावना हमें अपने जीवन में दृढ़ करनी चाहिए। परिश्रम से कमाए हुए धन को समाज की सेवा में व्यय करना तथा प्रभु निर्मित इस सृष्टि को पवित्र करते हुए ईश्वर रचित पदार्थों से यथायोग्य उपकार लेना ही यज्ञ है। इस मूल भावना को सदा हृदय में प्रतिष्ठित कर हम धर्माचरण में तत्पर हो सकते हैं। तथा अपना पूरा जीवन धर्म के मार्ग पर चला कर न केवल स्वयं सुखी हो सकते हैं वरन् पूरे समाज को सुखी कर सकते हैं। जीवन को सुखी बनाने के लिए धर्म का ही अनुष्ठान सब मनुष्यों को करना चाहिए जहाँ तक हो सके अधर्म से बचना चाहिए। धर्म के विपरीत आचरण को ही अधर्म कहते हैं।

अथर्ववेद के दूसरे मंत्र में धर्म का फल बतलाया गया है। धार्मिक व्यक्ति में ओज और तेज की वृद्धि होती है। वह निर्भय हो जाता है। उनकी शहनशक्ति बढ़ जाती है जिससे लोक के दुःख ताप उसे निर्बल

नहीं बना सकते । धार्मिक व्यक्ति को अपने जीवन को उन्नत करने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का धारण कर शरीर के बल को भी बढ़ाना चाहिए। वाणी पर नियंत्रण कर उसे मधुर और प्रिय बनाने से वाणी का बल बढ़ता है। मन और इन्द्रियों को वश में करने से मानसिक बल की वृद्धि होती है। इस प्रकार धर्म को अपनाने से ही मनुष्य चक्रवर्ती राज्य लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है तभी श्रीमान् कहलाने का अधिकारी होता है । श्री का अर्थ शोभा है धर्म से युक्त होने पर मनुष्य की शोभा बढ़ती है इसी से प्राचीनकाल से हम लोग हर व्यक्ति के प्रति अपनी शुभ कामना उसे श्रीमान् कह कर व्यक्त करते हैं । धर्म के आचरण से ही सब व्यक्ति सच्चे अर्थों में श्रीमान् हो सकते हैं ।

धर्मानुष्ठान का पथ

- अपनी ही वस्तु का उपभोग करें ।
- परस्पर सत्य व्यवहार करें ।
- शुभ गुणों से दीक्षित हों ।
- निर्बल प्राणियों की रक्षा करें ।
- यज्ञमय परोपकारमय जीवन व्यतीत करें ।
- संयमी बन कर मन और आत्मा की उन्नति करते हुए ओजस्वी तेजस्वी, वर्चस्वी श्रीमान् बन कर चक्रवर्ती राज्य सुखों का उपभोग करें ।

[१०]

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च ।

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ।

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च ।

अथर्व कां. १२ सू. ५ मं. ८–९–१०

"इस प्रकार वेद के अनेक मंत्रों में परमेश्वर ने धर्म का उपदेश किया है । ब्रह्म च–सबसे उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना, उससे विद्या का प्रचार करना और उन लोगों को भी चाहिए कि विद्या के प्रचार में ही सदा तत्पर रहें ।

क्षत्र च – अर्थात् सब कामों में चतुरता, शूरवीरपन, धीरज, वीर पुरुषों से युक्त सेना का रखना दुष्टों को दण्ड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों को बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रिय वर्ण का अधिकार देना ।

राष्ट्रञ्च – श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुण सहित होके सब कामों को सदा सिद्ध करना चाहिए ।

विशश्च – वैश्य आदि वर्णों को व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबंध करना और धन की वृद्धि तथा रक्षा करना ।

त्विषिश्च – सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणों ही का प्रकाश करना चाहिए ।

यशश्च – उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्ति को बढ़ाना उचित है ।

वर्चश्च – सत्य विद्याओं के प्रचार के लिए अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिए ।

द्रविणं च – सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रक्षा यथावत् करनी चाहिए । रक्षा किये पदार्थों की सदा बढ़ती करना और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बढ़े हुए धनादि पदार्थों का खर्च यथावत् करना चाहिए । इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धन धान्यादि को बढ़ा के सुख को सदा बढ़ाते जाओ ।

आयुश्च – वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि और रक्षा करना तथा युक्तिपूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ ।

रूपं च – अत्यन्त विषय सेवा से पृथक् रह करके शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना ।

नाम च – उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिए जिससे अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो।

कीर्तिश्च – श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिए परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो जिससे तुम्हारा भी यश बढ़े।

प्राणश्चापानश्च – जो वायु भीतर से बाहर आता है उसको प्राण जो बाहर से भीतर जाता है उसे अपान कहते हैं। योगाभ्यास, शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ।

चक्षुश्चश्रोत्रञ्च – प्रत्यक्ष और शब्दादि आठ प्रमाणों से ज्ञानपूर्वक सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो।

पयश्चरसश्च – पय अर्थात् दूध जलादि और रस अर्थात् शक्कर औषधि और घृतादि हैं इनको वैद्यक शास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहो।

अन्नं चान्नाद्यं च – वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिए।

ऋतं च सत्य च – ऋत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी जैसा हृदय में ज्ञान हो, सदा वैसा ही भाषण करना और सत्य को ही मानना चाहिए।

इष्ट च पूर्तं च – इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वोक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट

की सिद्धि करने की पूर्ति और जिस जिस उत्तम कामों के आरंभ को यथावत् पूर्ण करने के लिए जो-जो अवश्य हो सो-सो सामग्रीपूर्ण करनी चाहिए।

प्रजा च पशवश्च – सब मनुष्य लोग अपने सन्तान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है।

इन मंत्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें।"

अथर्ववेद के इन मंत्रों में धर्मानुष्ठान के उपाय बतलाये हैं। धर्म को मनुष्य समाज में फैलाने के लिए समाज को तीन भागों में बाँट देना चाहिए। जिस प्रकार हमारा शरीर तीन भागों अर्थात् शिर हृदय एवं पेट के रूप में विभक्त है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड भी तीन लोकों में विभाजित है। द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक पृथिवी लोक। द्युलोक पवित्रता व प्रकाश देता है, अन्तरिक्ष लोक वर्षा वायु और विद्युत् के द्वारा हमारी रक्षा करता है। पृथ्वी लोक उत्पादन एवं पालन का कार्य करता है। इसी तरह सिर के द्वारा हम ज्ञान ग्रहण करते हैं। हृदय और भुजाओं के द्वारा शरीर की रक्षा और पेट के द्वारा पालन का कार्य होता है। अतः समाज में भी ब्राह्मण ज्ञान का प्रचार करे क्षत्रिय स्वभाव के मनुष्य राज्य की व्यवस्था और सेना के द्वारा समाज की सुरक्षा का कार्य करें और वैश्य कृषि और व्यापार के द्वारा उत्पादन एवं धन धान्य का विस्तार करते हुए समाज का पालन करे। तभी संसार में सुख-शान्ति का राज्य स्थापित हो सकता है। सब अपने-अपने विशिष्ट धर्म के द्वारा समाज को सुव्यवस्थित बनाएँ।

गुणों की वृद्धि करने से ही धर्म की वृद्धि होती है। आयु विद्या यश और बल की वृद्धि के उपाय भी इन वेद मंत्रों में बतलाये गए हैं।

उत्तम-उत्तम अन्न दूध फलादि के सेवन से शारीरिक उन्नति करनी चाहिए प्राणायाम के द्वारा प्राणों को बढ़ाना चाहिए ज्ञान और प्रभु की उपासना के द्वारा आत्मा का बल बड़ाना चाहिए। विषयों की आसक्ति से दूर रह कर सुन्दर रूप को बढ़ायें। सुसंस्कारों के द्वारा प्रजा को बढ़ाना और धन को बढ़ाने के लिए पशुओं को भी बढ़ाना चाहिए मानव समाज की उन्नति धर्म की उन्नति है और धर्म उन गुणों का नाम है जिसके माध्यम से हमारी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति हो। उन्नति के सभी सूत्र इन मंत्रों में वर्णित हैं।

धर्मानुष्ठान के विधि-विधान

- ज्ञान रक्षा और वृद्धि के आधार पर मनुष्यों की क्षमता को विभक्त करना।
- शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
- आयु, विद्या, यश और बल को बढ़ाना।
- सत् गुणों को बढ़ाने के लिए प्रभु का आश्रय ग्रहण करना।

[११]

ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च
सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च
तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च
दमश्च स्वाध्याय प्रवचने च
शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च
अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च
अग्निहोत्रं च स्वाध्याय प्रवचने च
अतिथयश्च स्वाध्याय प्रवचने च
मानुषं च स्वाध्याय प्रवचने च
प्रजा च स्वाध्याय प्रवचने च
प्रजनश्च स्वाध्याय प्रवचने च
प्रजातिश्च स्वाध्याय प्रवचने च

सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तपः इति तपोनित्यः पौरुशिष्टि स्वाध्याय प्रवचन एवेति नाको मौद्‌गल्यातद्धि तपस्तद्धि तपः ।

तैत्तरीय शाखा प्रपा. ७ अनु. ९

"तैत्तरीय शाखा में भी वर्णित धर्म के लक्षणों का सेवन सब मनुष्यों को करना चाहिए ।

ऋतं च – सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म ही की उपासना करते रहें उसके साथ वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना बराबर करते जाएँ।

सत्यं च – प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसा ही बोलो और उसी को मानो उसके साथ पढ़ना पढ़ाना कभी न छोड़ो।

तपश्च – विद्या ग्रहण के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित रहो।

दमश्च – अपनी आँख आदि इन्द्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा के सदा धर्म में चलाओ।

शमश्च – अपनी आत्मा और मन को सदा धर्म सेवन में ही स्थिर रखो।

अग्नयश्च – तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो तथा अनेक प्रकार से शिल्प विद्या की उन्नति करो।

अग्निहोत्रं च – वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो।

अतिथयश्च – जो सब जगत् के उपकार के लिए सत्यवादी सत्यकारीपूर्ण विद्वान् सबका सुख चाहने वाले हों उन

सत्पुरुषों के संग से करने योग्य व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो ।

मानुषं च – सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के ठीक-ठीक प्रबन्ध से धन आदि पदार्थों को बढ़ाके, रक्षा करके, अच्छे कार्यों में खर्च करके उनसे धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों फल की सिद्धि द्वारा अपना जन्म सफल करो ।

प्रजा च – अपनी सन्तानों का यथायोग्य पालन शिक्षा से विद्वान् करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो ।

प्रजनश्च – जो सन्तानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उसको पुत्रेष्टि कहते हैं उसमें श्रेष्ठ भोजन और औषध सदा सेवन करते रहो तथा ठीक-ठीक गर्भ की रक्षा भी करो ।

प्रजातिश्च – पुत्र और कन्या के जन्म समय में स्त्री और बालकों की रक्षा युक्तिपूर्वक करो । ऋत से लेकर प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह लक्षण होते हैं उन सबके साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिए कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त हो सकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे । क्योंकि सब गुणों में विद्या गुण ही उत्तम गुण है इसलिए सब धर्म लक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है तो इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए ।

सत्यमिति० – हे मनुष्य लोगो ! तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो ।

तपइति० – धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिए नित्य विद्या ग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना और पढ़ाना है यही सबसे उत्तम है ।"

तैतिरिय आरण्यक में धर्म का क्रियात्मिक रूप समझाया गया है । धर्म में प्रीति करने से ही जीवन में सफलता की प्राप्ति होती है और धर्म में प्रीति उत्पन्न करने का सबसे उत्तम स्वाध्याय और प्रवचन है । स्वाध्याय से व्यक्तिगत जीवन में प्रकाश मिलता है और प्रवचन के द्वारा न केवल दूसरों का मार्ग दर्शन होता है अपितु मनुष्य को स्वयं भी उन्नत होने की प्रेरणा मिलती है एवं धर्माचरण में उत्साह जगता है । अतः मनुष्यों को धर्म का प्रचार करने के लिए स्वाध्याय और प्रवचन के कार्य को निरन्तर जारी रखना चाहिए ।

धर्म को जीवन में धारण करने के लिए सत्य, शम् अर्थात् मन को शान्त रखना, दम् अर्थात् अपनी इन्द्रियों को दुराचरण से रोकना, अग्निहोत्र के द्वारा सृष्टि का उपकार करना, सन्तान का निर्माण, धर्मात्माओं की सेवा सत्कार करना, धन से सम्यक् व्यवस्था करना आदि गुण आवश्यक हैं । पर इन गुणों को धारण करते हुए भी स्वाध्याय और प्रवचन का कार्य अनवरत रूपेण चलना चाहिए जिससे अधर्म की वृद्धि और धर्म की हानि न हो । स्वाध्याय और प्रवचन ये मनुष्य जीवन की उन्नति के प्रधान अंग हैं । ऋषि मुनियों द्वारा रचे हुए शास्त्रों का अध्ययन नित्य प्रति करना चाहिए जिससे धर्म के मार्ग पर चलने में दृढ़ता उत्पन्न होती है । जिन अच्छी बातों को हम जानें उसे दूसरों को जताने से हमारे ज्ञान की पुण्टी होती है । स्वाध्याय के बल पर ही हम सत्पथ पर चल पाते हैं इसलिए आवश्यक है कि हम औरों को भी सत्पथ

पर चलने को प्रेरित करें। इसीलिए ऋषि ने प्रत्येक गुण का उपदेश

देते हुए साथ में स्वाध्याय और प्रवचन को जोड़ दिया है। स्वाध्याय व्यक्तिगत जीवन को एवं प्रवचन सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है अतः धार्मिक मनुष्य को सदैव तत्परता से इन्हें अपनाना चाहिए तभी सत्य शम्, दम, तप आदि गुणों का विकास संभव है अन्यथा इनके लुप्त होने का भय हो जाता है।

धर्मानुष्ठान के अंग

- स्वाध्याय और प्रवचन को अपनाओ।
- सत्य, शम, दम पूर्वक सेवा कार्य में प्रवृत्त रहो।
- विद्या की उन्नति ही धर्म की उन्नति है।
- सुसन्तान का निर्माण भी धर्म की वृद्धि का कारण है।

वेद मनूच्या चार्योन्तेवासिन मनुशास्ति
सत्यंवद
धर्मंचर
स्वाध्यान्मा प्रमदः
आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः
सत्यान्न प्रमदितव्यम्
धर्मान्न प्रमदितव्यम्
कुशलान्न प्रमदितव्यम्
भूत्यै न प्रमदितव्यम्
स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्
देव पितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्
मातृदेवो भव
पितृदेवो भव
आचार्य देवो भव
अतिथि देवो भव
यान्यनवद्यानि कार्याणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि
यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि

"वेदमनूच्या० – जो आचार्य अर्थात् विद्या और शिक्षा को देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक पढ़ न चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे—हे पुत्रो वा शिष्यों ! तुम सदा सत्य ही बोला करो। और धर्म का सेवन करके एक परमेश्वर ही की भक्ति किया करो। इसमें आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो। आचार्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो। युवावस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो तथा सत्य धर्म को कभी मत छोड़ो। कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य को सदा बढ़ाते जाओ और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मत करो।

देवपितृ० – देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और संग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो ऐसे ही सत्य भाषणादि शुभ गुणों और कर्मों का ही का सदा सेवन करो किन्तु मिथ्या भाषणादि को कभी मत करो।

माता पिता और आचार्य आदि अपने सन्तानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो वा शिष्य लोगो ! हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुम लोग उन्हीं का ग्रहण करो किन्तु हमारे बुरे कामों का नहीं।"

माता पिता और आचार्य ये तीन ही समाज के निर्माता और धर्म के रक्षक होते हैं। उन्हें सदैव अपनी सन्तानों और शिष्यों को धर्म मार्ग पर चलने का उपदेश देते रहना चाहिए। बाल्यकाल से ही बच्चों

में सत्य धर्म के प्रति निष्ठा जागृत करनी आवश्यक है। जो माता पिता बाल्यकाल में सन्तानों के हृदय में धर्म की आस्था उत्पन्न नहीं कर पाते प्रायः उनकी सन्तान धर्म मार्ग से विमुख हो कर नाना प्रकार के दुराचरणों में फँस जाती है। इन आरण्यक सूत्रों में सन्तानों एवं शिष्यों को मुख्य रूप से किन-किन बातों का उपदेश देना चाहिए इसका बड़ा सुन्दर प्रस्तुतिकरण किया गया है। सत्य बोलने, मानने व विचार करने के साथ-साथ प्रायः सन्तानों को आलस्य रूपी दोष से भी बचाना चाहिए। आलसी व्यक्ति कभी भी धर्माचरण में तत्पर नहीं हो पाता। अतः दूसरी शिक्षा उन्हें पुरुषार्थी उद्यमी बनने की दी जानी चाहिए तभी वे विद्या प्राप्ति में प्रयत्नशील रहेंगे। माता पिता आचार्य अतिथि की देव संज्ञा इसी कारण है कि वे अपनी सन्तानों को विद्या और सुशिक्षा का दान करते हैं। दिव्यताओं का आदान करने वाले माता पिता ही देव कहलाने के अधिकारी हैं। इसीलिए इन सूत्रों में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि माता पिता आदि को चाहिए कि वे अपनी सन्तानों को यह बात भली प्रकार समझा दें कि उन्हें अपने से बड़ों के सद्गुणों एवं सच्चरित्रों का ही अनुकरण करना चाहिए दुर्गुणों का नहीं।

आधुनिक युग में माता पिता अपने इस कर्तव्य से च्युत होते दिखाई पड़ते हैं। उन्हें अपनी जीविका कमाने और अपने ही भोगों की चिन्ता में डूबते देखा जा सकता है। जब कि गृहस्थाश्रम का प्रमुख उद्देश्य सुसन्तान का निर्माण करना है। सन्तानों को सद्गुणों से अलंकृत करना, उनमें धर्म के प्रति, सत्य के प्रति आस्था उत्पन्न करना माता-पिता का प्रथम कर्तव्य है। यहीं से बालक के जीवन की नींव रखी जाती है। जिस व्यक्ति के जीवन में धर्म की दृढ़ नींव न हो उसका जीवन रूपी भवन साँसारिक आँधी एवं तूफ़ानों में आसानी से ढह जाता है।

आधुनिक युग में आचार्य और गुरु तो केवल नाम मात्र के रह गए है न उनमें गुणों का गुरुत्व है न आचार की श्रेष्ठता। परिणामतः

सारी शिक्षा केवल शब्दों का ज्ञान मात्र रह गयी है। आचार्य को अपने जीवन से छात्रों के जीवन दीप को प्रज्वलित करने का कार्य करना होता है तभी वे ज्ञान व आचरण के द्वारा समाज को आलोकित कर पाते हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि गुरु और आचार्य अपने इस परम धर्म का पालन करने के प्रति सजग हों तभी धर्म का आलोक मानव हृदयों को प्रकाशित कर पाएगा।

इसी तरह अतिथि सन्यासीगण जो मनुष्य समाज के उपकार के लिए अपने जीवन को अर्पित करते हैं और निस्वार्थ भाव से मानवों में धर्म का प्रचार करते हैं उनकी भी देव संज्ञा है। जिस समाज में जितनी अधिक मात्रा में ऐसे धर्म प्रचारक होंगे वह समाज उतना ही अधिक धार्मिक बनने में सक्षम होगा।

धर्माचरण के सूत्रधार

- माता पिता आचार्य अतिथि साक्षात् देव हैं वे अपनी दिव्यताओं से संसार में धर्म की उन्नति और अधर्म की अवनति किया करें।
- वे सदा मानव समाज को शास्त्रों के अध्ययन और सत्यधर्म के पालन में प्रेरित किया करें।

[१३]

एके चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः
तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्
श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम्
श्रिया देयम् ह्रिया देयम
भिया देयम् संविदा देयम्

अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता अयुक्ताः अलूक्षा धर्म कामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्त्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ताः अयुक्ताः । अलूक्षा धर्म कामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्त्तेरन् । तथा तेषु वर्त्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

तैत्तिरिय आरण्यक प्रपा. ७ अनु. ११

"जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जानने वाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उनको प्रीति वा अप्रीति से श्री वा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा

से सदा ज्ञान देते रहो । तथा विद्यादान सदा करते जाओ । और जब तुम को किसी बात में सन्देह हो तब पूर्ण विद्वान् पक्षपात रहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शंका निवारण सदा करते रहो । ये लोग जिस-जिस प्रकार से जिस-जिस धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो । यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटा के उसके स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्म का स्थापन करना है इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं । इसीं प्रकार शुभ लक्षणों का ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ।"

धर्म के प्रचार में विद्वान् एवं ब्रह्म वेत्ता का महत्वपूर्ण योगदान होता है । अतः समाज में स्वाभाविक रूप से वे ही सन्मान के पात्र हैं । जिनका सारा जीवन धर्म प्रचार में ही व्यतीत होता है और जो परोपकार एवं जन कल्याण के कार्य में प्रवृत्त रहते हैं—ऐसे व्यक्तियों को दान देना भी बहुत बड़ा धर्म है क्योंकि उनका दिया हुआ दान विद्या और धर्म की उन्नति में सहायक सिद्ध होता है अतः आरण्यक के इन वचनों में ऐसे ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी जनों की सेवा में अपने धन को अर्पण करने का विधान है ।

जो व्यक्ति अपने तन मन धन को धर्म की उन्नति में अर्पित कर देते हैं वे ही सच्चे ब्राह्मण कहलाते हैं । ब्रह्म शब्द का अर्थ वृहत् अर्थात् बड़ा है जो बड़ों से बड़े प्रभु को जानता है संसार को जनाता है । ज्ञानी है ज्ञान का प्रचार करता है वही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है । ऐसे ब्राह्मणों को दान देना धर्म है । इन वचनों में दान की महिमा बताई गई है । श्रद्धा से दो चाहे अश्रद्धा से दो । लज्जा से दो चाहे भय से दो परन्तु दो अवश्य । जो व्यक्ति समाज के लिए सर्वोपरि वस्तु विद्या और धर्म का दान करता है उसे धन के दान द्वारा तृप्त करो ।

विद्वान् और धार्मिक ब्रह्मवेत्ताओं (ब्राह्मणों) के अनुशासन में जब समाज चलता है तभी धर्म की उन्नति होती है। उनके बताए हुए मार्ग पर चलना श्रेयस्कर है शास्त्रों में प्रदर्शित नियमों का विधान ही अनुशासन कहलाता है। शासन तो शास्त्रों के नियमों का होता है उन नियमों में चलाने वाले व्यक्तियों की आज्ञाओं को मानना ही अनुशासन है। जब तक समाज ऐसे धार्मिक व्यक्तियों के अनुशासन में चलता है उसकी श्रीवृद्धि होती जाती है।

हमारी प्राचीन परम्परा यही है कि धन का सदुपयोग विद्या के प्रचार, उद्योगों की वृद्धि एवं दीन दुखियों की सेवा में होता था। यही दान की परम्परा अब तक अक्षुण्ण चली आती है क्योंकि दान धर्म का विशिष्ट अंग है। धर्म के प्रचारक जहाँ निवास करते हों, लोकोपकार की योजनायें क्रियान्वित करने में जहाँ पुरुषार्थ किया जाता हो, विद्या की उन्नति के लिए जहाँ जुटे हुए हों ऐसी संस्थाएँ ही प्राचीनकाल में मठ मन्दिर आदि नामों से संबोधित की जाती रही हैं। आज भी प्रायः सभी मत मतान्तरों में ऐसे स्थल पाये जाते हैं और जनता अपनी श्रद्धा के अनुकूल वहाँ दान भी देती है परन्तु जिस अनुपात में धन मिलता है उस अनुपात में धर्म की वृद्धि नहीं हो पा रही। इसका मूल कारण यही है कि धन को धर्म के आडम्बर में, प्रदर्शन में अधिक व्यय किया जाता है, लोकोपकारक कर्मों में अपेक्षाकृत उपेक्षा दिखाई जाती है। अतः धर्म का ह्रास होने लगता है। आवश्यकता इस बात की है कि धार्मिक स्थल कुछ व्यक्तियों के उदर पूर्ति का माध्यम न बन कर धर्म के प्रचार में उत्साह से लगे रहें तो दान की प्रवृत्ति से समाज लाभान्वित हो सकता है अन्यथा दान के प्रति जनता में अरूचि उत्पन्न होने लगती है फलतः समाज का धन व्यसनों में, भोगों में, विलासिता में, व्यय होने लगता है और दीन दुखियों के दुःख बढ़ते जाते हैं। अविद्या और अधर्म का बोलवाला होने लगता है अतः धर्म के प्रचार के लिए जहाँ व्यक्तियों

में दान की प्रवृत्ति आवश्यक है वहीं उस दान का धर्म के प्रचार में

विनियोग करने की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

धर्माचरण का रूप

- धर्मात्मा विद्वानों के द्वारा विद्या और धर्म का प्रचार होना चाहिए उन्हीं के अनुशासन में समाज को चलना चाहिए।
- ऐसे ब्राह्मणों को धन देने में सदा तत्पर रहना चाहिए।
- दान धर्म का प्रमुख अंग है इसका सुनियोजन आवश्यक है।

× × ×

"परोपकार के लिए शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने की जिनमें अनेक मनुष्य कर्म करके अपना-अपना जीवन सुख से किया करें।

अनाथ उनको कहते हैं जिनका सामर्थ्य अपने पालन का भी न हो जैसे कि बालक रोगी अंग भंग व्यक्ति आदि हैं उनको भी तन, मन, धन लगा कर सुखी रख के जिस-जिस से जो-जो काम बन सके बस उससे वह वह कार्य सिद्ध करना चाहिए कि जिससे कोई आलसी होके नष्ट बुद्धि न हों और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान पान और विद्या की प्राप्ति के लिए जितना तन, मन, धन लगाया जाए उतना थोड़ा है। परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना न रखना चाहिए।"

व्यवहार भानु—स्वामी दयानन्द

[१४]

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मै तदु पास्वैतत्तपः ।

तैत्तिरिय आरण्यक प्रपा. १० अनु. ८

"अब तप का लक्षण कहा जाता है। जो ऋत अर्थात् यथार्थ तत्व का ज्ञान 'सत्यं' सच कहना, मानना, आचरण करना 'श्रुत' सब विद्याओं का सुनना सुनाना 'शान्त' अपने मन को अधर्माचरण से हटाकर धर्म में स्थापन करना ही मन की शान्ति को प्राप्त करना है। 'दम' इन्द्रियों को धर्म में प्रवृत्त रखना, 'शम' मन को धर्मयुक्त व्यवहारों में लगाना। 'दान' सत्य विद्या का दान 'यज्ञ' अग्निहोत्र से अश्वमेधपर्यन्त पूर्वोक्त यज्ञानुष्ठान भूर्भुवः स्वः तीनों लोकों में व्याप्त ब्रह्म की ही उपासना करना इन्हीं को तप कहते हैं इससे अन्य विपरीत आचरण को नहीं।"

इन वचनों में तप की व्याख्या की गई है। धर्म का आचरण विना तप के सिद्ध नहीं होता। अतः यहाँ पर तप का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। प्रायः यह देखा जाता है कि लोग शरीर को कष्ट देना ही तप समझते हैं। कोई पंचाग्नि तप करता है कोई एक हाथ ऊपर उठाकर कोई पैर उठाकर, कोई भूखे रहकर, कोई बैठकर, कोई खड़े होकर ऐसा

प्रदर्शन करते हैं कि मानों वे बड़ी तपस्या कर रहे हैं पर तप का यह रूप भ्रष्ट रूप है। गीता में भी स्पष्ट कहा गया है कि द्वन्द्व को सहन करना तप है। धर्माचरण करते हुए हमें कष्ट की अनुभूति हो तो भी उसे करते जाना तप है। सत्याचरण से चाहे हमें हानि ही क्यों न प्रतीत हो फिर भी उसे न छोड़ना तप है। सहस्रों सांसारिक कार्य छोड़ कर भी ज्ञान और धर्म की बातें धैर्य से सुनना यह भी तप है। इन्द्रियाँ और मन को अधर्माचरण से हटा कर धर्म की ओर प्रेरित करते रहना लोभ या लालच से भी धर्म का त्याग न करना तप है। स्वयं कष्ट में रह कर भी दान देना तप है। अग्निहोत्रादि यज्ञों का अनुष्ठान भी तप है। परमपिता परमेश्वर की भक्ति में अपने मन को लगाना भी तप है। इस प्रकार के तप धर्मानुष्ठान में सहायक सिद्ध होते हैं। इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना, सन्मार्ग की ओर ही प्रेरित करना बहुत बड़ा तप है। निरन्तर धर्मानुष्ठान में लगे रहना, धर्मयुक्त क्रियाओं को करना साधारण बात नहीं है। मन को एकाग्र कर प्रभु की भक्ति में लगाना सबसे महान् तप है। ऐसी तपस्या से आत्मा की मलिनता नष्ट हो जाती है। आत्मा की पवित्रता ही तप का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।

सार

- तपस्या से ही धर्म की सिद्धि होती है।
- ज्ञान प्राप्त करना तप है।
- सत्य मानना और सत्याचरण तप है।
- शास्त्रों की बातें सुनना तप है।
- शम, दम अर्थात् संयम तप है।
- यज्ञ कर्म और दान तप है।
- प्रभु की भक्ति तप है।

[१५]

सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते
कदाचन । सतां हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ।
तप इति तपो नानशनात्परं यद्धि परंस्तपस्तद्दुर्धर्षं
तद्दुराधर्षं तस्मात्तपसि रमन्ते ।
दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्माद्दमे रमन्ते ।
शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे रमन्ते ।
दानमिति सर्वाणि भूतानि प्रशंसन्ति दानान्नाति
दुष्करं तस्माद्दाने रमन्ते ।
धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं धर्मान्नाति
दुश्चरं तस्माद्धर्मे रमन्ते ।
प्रजन इति भूयांसम्स्तस्माद्भूयिष्ठाः प्रजायन्ते
तस्माद् भूयिष्ठाः प्रजनने रमन्ते ।
अग्नय इत्याह तस्मादग्नय आधातव्याः ।
अग्निहोत्रमित्याह तस्मात् अग्निहोत्रे रमन्ते ।
यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता स्तस्मा द्यज्ञे रमन्ते ।
मानसमिति विद्वांसस्तस्मात् विद्वांस एव मानसे रमन्ते ।
न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा

तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत् य एवं वेदेत्युपनिषद् ।

तैत्तिरीय आरण्यक प्रपा. १० अनु. ६२

"सत्यं परं – अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है जिसका ऋत भी नाम है। सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है। क्योंकि सत्पुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूटके वे दुःख में कभी नहीं गिरते। इसलिए सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिए।

तपइति – जो पीछे ऋतादि लक्षणयुक्त तप कहा गया है उसी का अनुष्ठान सबको करना चाहिए। जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण न करना। जो अत्यन्त उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है। तदापि बुद्धिमान मनुष्य को करना सुगम है इससे तप में नित्य ही निश्चित रहना ठीक है।

दमइति – जितेन्द्रिय होके जो विद्या का अभ्यास और धर्म का आचरण करना है उसमें मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिए।

दानमिति – दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिससे कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है जिससे शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। इससे दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिए।

धर्मंइति – जो धर्म का लक्षण प्रथम कह आए हैं जो आगे कहेंगे वे सब इसी धर्म के हैं। क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं। यही धर्म का स्वरूप और सबसे उत्तम धर्म है। सब मनुष्यों को इसी में सदा वर्तना चाहिए।

प्रजन इति – जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है जिसमें वहुत मनुष्य रमण करते हैं इससे जन्म को प्रजन कहते हैं।

अग्नय इत्याह – तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्प विद्या सिद्ध करनी उचित है।

अग्निहोत्रं च – अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिए।

यज्ञं च – यज्ञ से देवत्व की प्राप्ति होती है। अतः यज्ञ का अनुष्ठान सदा करना चाहिए।

मानसं च – जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वही विद्वान् होते हैं। इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वे ही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं इससे मन का बल और उसकी शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है।

न्यास इति – ब्रह्मा बनके अर्थात् चारों वेद जान के संसारी व्यवहारों को छोड़ के न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके जो सब मनुष्यों को सत्य धर्म और सत्य विद्या से लाभ

पहुँचाना है यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण जान के करना उचित है ।

धर्म पर आचरण करने के लिए मनुष्यों को किस-किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए । इसे स्पष्ट करते हुए उपनिषद्कार कहते हैं कि सत्य पर आचरण उसके लिए तप, इन्द्रियों का दमन करना, दान देना, प्रजा की उत्पत्ति एवं पालन करना अग्निहोत्रादि यज्ञों का अनुष्ठान, विद्या की उन्नति एवं संन्यासी बन कर सद्विचारों का प्रचार आदि कार्य करना चाहिए । बिना इन गुण कर्मों स्वभावों को अपनाये हम धर्म पर आचरण करने में असमर्थ रहेंगे ।

धर्म के साधन

- सत्याचरण जितेन्द्रियता आदि गुणधर्म को धारण करने में सहायक हैं ।
- दान यज्ञादि परोपकार धर्म के सहायक कर्म हैं ।
- विद्या की उन्नति से ही धर्म प्राप्ति संभव है ।
- संन्यासी धार्मिक विद्वान् व्यक्ति ही धर्म का प्रचार प्रसार करने के अधिकारी हैं ।

[१६]

प्राजापत्यो हारुणिः सुपर्णेयः प्रजापतिं पितरमुपसार किं भगवन्तः परमं वदन्तीति तस्मै प्रोवाच-सत्येन वायुरावाति, सत्येन आदित्यो रोचते दिवि, सत्यं वाचः प्रतिष्ठा, सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति।

तपसा देवा देवतामग्र आयन्तपसर्षयः सुवरन्व-विन्दन् तपसा सपत्नान् प्रणुदामारातीस्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात् तपः परमं वदन्ति।

दमेन दान्ताः किल्विषमवधून्वन्ति, दमेन ब्रह्म-चारिणः सुवरगच्छन् दमो भूतानां दुराधर्षं, दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात् दमं परमं वदन्ति।

शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयोऽन्व विन्दञ्छमो भूतानां दुराधर्षं शमे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माच्छमं परमं वदन्ति।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उप सर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मात् धर्मं परमं वदन्ति। प्रजननं वै प्रतिष्ठा लोके

साधु प्रजाया स्तन्तु तन्वानः पितृणामनृणो भवति तदेव तस्य अनृणं तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति ।

अग्नयो वै त्रयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्य ऋक् पृथिवी रथन्तर मन्वा हार्य पचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्य माहवनीयः साम सुवर्गो लोको बृहत् तस्मादग्नीन् परमं वदन्ति ।

अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टं सुहुतं यज्ञक्रतूनां प्रापणं सुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोत्रं परमं वदन्ति ।

यज्ञ इति यज्ञेन हि देवा दिवंगता यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद् यज्ञं परमं वदन्ति ।

मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन मनसा साधु पश्यति मानसाः ऋषयः प्रजा असृजन्त मानसे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ।

तैत्तिरीय आरण्यक प्रपा. १० अनु. ६३

"सत्येन० – सत्य को उत्तम इसलिए कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म है उससे सब लोकों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है। सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सत्पुरुषपन है।

तपसा देवा० – पूर्वोक्त तप से ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके सब काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जीत के पापों से छूट के धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं इससे तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं।

दमेन० – दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्म-चर्य आश्रम का सेवन करके विद्या को प्राप्त होते हैं इसलिए धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है।

शमेन० – शम का लक्षण यह है कि जिससे मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं इससे यह भी धर्म का लक्षण है।

दानेन० – दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते है इससे दान भी धर्म का लक्षण है।

धर्मोवि० – सब जगत् की प्रतिष्ठा धर्म ही है धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छुड़ा देते हैं जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिए जाते हैं इसलिए सबसे उत्तम धर्म को ही जानना चाहिए।

प्रजननं० – जिससे मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होता है और जो परम्परा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है इससे प्रजनन भी धर्म का हेतु है क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे ? उस कारण से भी धर्म को प्रधान जानो।

अग्नयी वै० – जिससे तुम लोग सांगोपांग तीनों वेदों को पढ़ो क्योंकि विद्वानों के ज्ञान मार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग ये तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती है इससे इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं।

अग्निहोत्रं० – प्रातः और सन्ध्याकाल में अग्निहोत्र द्वारा वायु तथा वृष्टि जल को दुर्गन्ध से छुड़ा के सुगंधित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है इसलिए अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते है।

यज्ञइति० – यज्ञ से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं इससे यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं।

मानसं वै० – मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं। पवित्र मन से सत्य का ज्ञान होता है और उसमें जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उनसे परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी-अपनी सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है इससे मन को जो पवित्र और विद्यायुक्त करना है वह भी धर्म का उत्तम लक्षण और साधन है। इससे मन के पवित्र होने से सब धर्म कार्य सिद्ध होते हैं ये सब धर्म के ही लक्षण हैं।"

उपनिषद् की इस कथा में धर्म की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गई है। प्रजापति के पास बहुत से ऋषि जाकर प्रश्न करते है कि इस

दुनिया में सबसे उत्तम व्यवहार क्या है ? इसको स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं—सत्य पर आचरण करना सबसे उत्तम है क्योंकि सत्य के ही प्रकाश से सृष्टि के सब पदार्थ प्रकाशित होते है । इसी प्रकार तप के द्वारा ही सत्य की प्राप्ति संभव है । तप के लिए इन्द्रियों का संयम और मन की शान्ति आवश्यक है । दान, यज्ञ, आदि शुभ कर्मों से मन में शान्ति उत्पन्न होती है । अच्छे कर्मों की प्रेरणा वेद शास्त्रों से मिलती है । अतः वेद शास्त्रों का अध्ययन करना भी आवश्यक कर्म है । प्रभु की सृष्टि को उत्तम प्रजा के द्वारा बढ़ाना भी धर्म है और ये सब धर्म कार्य तभी पूर्ण हो सकते हैं जब हमारा मन शुद्ध हो जाए । मन की शुद्धि धर्माचरण के लिए बहुत आवश्यक है और मन की शुद्धि शुभ कर्म, सत्यज्ञान तपस्या एवं संयम पर आधारित है । इस प्रकार धर्म का अनुष्ठान करने के लिए इन सब गुणों की माला मनुष्य को धारण करनी होती है तभी उसका जीवन सुशोभित होता है ।

धर्म–चक्र

- धर्म का चक्र सत्य से प्रारंभ होता है ।
- तप, दम, शम इस चक्र की धुरियाँ हैं ।
- यज्ञ और दान से धर्म की वृद्धि होती है ।
- वेदादि शास्त्रों से धर्म की पुष्टि होती है ।
- मन की शुद्धि से धर्म में प्रवृत्ति होती है ।

[१७]

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः ।

सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्त कामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ।

मुण्डकोपनिषदि–मु. ३ खं. १ मं. ५, ६

"जो सत्य आचरण रूप धर्म का अनुष्ठान ठीक-ठीक विज्ञान और ब्रह्मचर्य करते हैं इन्हीं शुभगुणों से सबका आत्मा परमेश्वर जाना जाता है जिसको निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग देखते हैं। सो सबके आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन शुद्ध है। उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिए।

जो सत्य का आचरण करने वाला है, वही मनुष्य सदा विजय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण

और झूठे कामों का करने वाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त होता है। विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल जाता है। जिस मार्ग से आप्त धर्मात्मा विद्वान् लोग चल कर सत्यसुख को प्राप्त होते हैं, असत्य से कभी नहीं। इससे सत्य धर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को उचित है।"

वेद से लेकर उपनिषद् तक सभी शास्त्रों में सत्य की महिमा गाई गई है। बिना सत्याचरण के इस जीवन में ही शान्ति नहीं प्राप्त होती तो फिर पारलौकिक सुखों को प्राप्त करने की आशा ही व्यर्थ है। अतः उपनिषद् में वारंवार नाना रूपों में इस वात को स्पष्ट किया गया है कि सत्य पर आचरण करके ही मनुष्य अपने को पवित्र वना सकता है और पवित्र आत्मा ही प्रभु को पाने में समर्थ हो पाती है।

नाना प्रकार की उपासना पद्धतियों को ही जिन्होंने धर्म समझ लिया है ऐसे व्यक्तियों को धर्म के इस सत्य स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। पूजा पद्धतियों के मतभेद ने ही धर्म के विभिन्न व विकृत रूप को जन्म देकर मनुष्य समाज को विखण्डित कर दिया है जिससे धर्म की अवनति हो रही है। वास्तव में धर्म वह सोपान है जिसके माध्यम से प्रभु प्राप्त होते हैं। अपनी अज्ञानतावश हमने प्रभु के नाम स्मरण को ही धर्म मान लिया है। साध्य और साधन के अन्तर को समझ कर ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। धर्म का प्रमुख साधन सत्य है।

इसी बात को उपनिषद्कार ने वलपूर्वक घोषित किया है कि सत्य पर आचरण करना, ज्ञानी वनना, ब्रह्मचर्य अर्थात् संयमी बन कर जीवन व्यतीत करना यही तपस्या का मार्ग है और इसी तप में तप कर जव मनुष्य की स्वर्णमयी आत्मा कुन्दन वनने लगती है तभी अनायास ही प्रभु प्राप्ति के द्वार खुलने लगते हैं।

संसार में सत्य की ही अन्त में विजय होती है मिथ्याचरण का पर्दाफाश हो जाता है और झूठ के मार्ग पर चलने से पराजय का ही मुँह देखना पड़ता है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने सत्य के ही माध्यम से प्रभु प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया था। यह देवताओं का मार्ग है जिस पर चल कर मनुष्य में दिव्यता उत्पन्न होती है। सत्य पर चल कर ही हम जीवन संग्राम में विजय के चरण चूमते हैं। झूठ का सहारा लेने वाले कुछ समय तक के लिए भले ही अपने को सफल समझ लें पर अन्त में उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। फिर सिवा पछताने के वे कुछ नहीं कर सकते। झूठ पर आधारित सफलता रेत के महल की तरह ढह जाती है और सत्य युगों-युगों तक अपने यश की दुन्दुभि बजाता रहता है। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिन्होंने सत्य का दामन थाम लिया वे अमर हो गए। उन्होंने अपने जीवन से युगों-युगों तक प्रकाश फैलाया है वे धर्म के प्रकाश स्तम्भ बनकर मानव जाति का पथ-प्रदर्शन करने लगते हैं।

अतः हमें इस बात को दृढ़तापूर्वक अंगीकार कर लेना चाहिए कि सत्य की विजय स्थाई होती है सत्य का दामन थाम कर ही मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर लेता है। जिसने हृदय में इस विश्वास को दृढीभूत कर लिया कि सत्य का मार्ग ही श्रेयस्कर है उसने मानो धर्म के प्रमुख अंग को पा लिया।

धर्म-पथ

- सत्य से ही जीवन पवित्र होता है।
- जीवन की पवित्रता से ही प्रभु प्राप्ति संभव है।
- सत्य की ही सदा जय और झूठ की पराजय निश्चित है।
- सत्य के मार्ग पर चल कर ही देवयान के पथिक बन जाते हैं।

[१८]

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः । पूर्व मीमांसा—अ. १ पा. १ सूत्र २

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः ।

वैशेषिक अ. १ पा. १ सू. २

"ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिए जिसके करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं की है वहीं अधर्म कहाता है। परन्तु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उससे अलग होता है। उससे धर्म का जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है।

जिसके आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निश्रेयस् अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है। यह भी वेदों की व्याख्या है।

इत्यादि अनेक वेद मन्त्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उपदेश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म का करना उचित है। इससे विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिए धर्म और अधर्म एक ही हैं दो नहीं। जो कोई इसमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिए।"

ईश्वर ने वेदों के माध्यम से विधि और निषेध को स्पष्ट किया है। जो कर्तव्य कर्म वे विधि और जो अकर्तव्य कर्म हैं वे निषेध कहलाते

हैं । इन्हीं वेदों की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषदों, एवं छः दर्शन शास्त्रों में मिलती है । मीमांसा और वैशेषिक हमारे षड् दर्शनों में से दो मुख्य दर्शन हैं । इन्हीं दर्शन सूत्रों का उल्लेख कर महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने धर्म का लक्षण स्पष्ट करते हुए दर्शाया है कि प्रभु द्वारा प्रदत्त ज्ञान वेद में निर्दिष्ट कर्तव्य विशेष ही धर्म हैं ।

प्रभु पिता अन्तर्यामी रूप में बैठें हुए सबके हृदयों में भी निरन्तर सत्प्रेरणायें करते हैं । जब हम कोई बुरा काम करने जाते हैं तो भीतर से भय शंका और लज्जा की अनुभूति होने लगती है इसी प्रकार जब कोई अच्छा काम करने को उद्यत होते हैं तभी अन्दर से स्फूर्ति साहस व निर्भयता के भाव उदित होने लगते हैं यही प्रभु की प्रेरणा है । जो मनुष्य प्रभु की प्रेरणाओं को समझते हैं वे अपने जीवन को प्रकाशित कर लेते हैं । जो इन प्रेरणाओं की उपेक्षा करते हैं वे अन्धकार में भटक कर दुःख सागर में गोते लगाते हैं। अतः दर्शनकार ने धर्म का सीधा-सा रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है ।

गायत्री मंत्र को भी वेद के सब मंत्रों में उत्तम इसीलिए माना जाता है कि इसमें प्रभु की प्रेरणाओं को ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है । प्रभु से प्रार्थना की गई है कि हमारे मन और मस्तिष्क को, ज्ञान और कर्म को पवित्र बनाओ, जिससे हम आपकी प्रेरणाओं को प्राप्त कर जीवन को धन्य बना लें । चुद् प्रेरणे इस धातु से चोदयात् शब्द बना है उसे प्र उपसर्ग लगा कर शब्द में विशिष्टअर्थ शक्ति की वृद्धि कर दी गई है इसी को दर्शनकार 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' कह कर प्रतिपादित कर रहा है ।

प्रभु ने सृष्टि के आदि में ही ज्ञान देकर हमें धर्म की ओर प्रेरित किया है । अतः हमारा कर्तव्य है कि मनुष्य जन्म को पाकर हम धर्म रूपी पुरुषार्थ को सिद्ध करें । धर्म के स्वरूप को जानने का न केवल यत्न करें अपितु तदनुकूल जीवन में उसे चरितार्थ भी करें ।

वैशेषिक दर्शन में धर्म की बड़ी सुन्दर एवं सरल व्याख्या की गई है। जिस मार्ग पर चल कर इहलोक और परलोक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति संभव हो वही धर्म कहाता है। केवल इसी लोक की सिद्धि प्राप्त करनी नहीं है उस लोक के लिए भी सुख का मार्ग प्रशस्त करना है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो धर्म केवल परलोक के सुनहले स्वप्न दिखलाता है वह भी अधूरा है और जो केवल इसी लोक के सुखों तक सीमित है वह भी पूर्ण नहीं है इसीलिए दर्शनकार ने स्पष्ट कहा कि जिसके माध्यम से अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ती राज्य श्री तक सुख और निश्रेयस अर्थात् जन्म मरण के चक्र से छूट परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग प्राप्त हो उसी को तुम धर्म जानो। धर्म का पथ एक ऐसा राजपथ है जिससे लोक और परलोक दोनों को सुधारा जा सकता है। धर्म ही वह दिव्य नौका है जिसके द्वारा हम भव सागर को पार करके उस पार भी पहुँच सकते हैं।

ऋषि दयानन्द महाराज जो एक सत्यान्वेषी थे जिन्होंने धर्म के मूल तत्वों को समझा था मानव जाति के उपकार के लिए उन्होंने वेद-भाष्य की भूमिका में धर्म के सच्चे स्वरूप को वेदादि शास्त्रों से प्रतिपादित कर हमारे सन्मुख प्रस्तुत किया है।

सभी मतमतान्तरों में सूक्ष्म रूप में छिपी धर्म की आत्मा को स्पष्ट करने का प्रयास वास्तव में प्रशंसनीय है। धर्म की आत्मा पर मतवादियों ने कई आवरण डाल दिए हैं और मानव समाज उन पर नित नई परतें अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए चढ़ाता ही जा रहा है। जिससे साधारण मानव समाज उन परतों को ही धर्म समझ कर दिग्भ्रमित हो रहा है फलतः समाज में धर्म के नाम पर आपसी वैर-भाव पनप रहा है। मनुष्य मनुष्य का शत्रु वन बैठा है। सभी धर्म ध्वजी अपने को ही धर्म का ठेकेदार समझ रहे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम धर्म के सत्य स्वरूप को जानें तदनुकूल आचरण कर धर्मात्मा कहलाने के अधिकारी वनें।

'धियो यो नः प्रचोदयात्।

मनुस्मृति

मनुस्मृति से उद्धृत संस्कृत के इन सरल श्लोकों को प्रस्तुत करने का एक उद्देश्य यह भी है कि धर्म प्रेमी सज्जन प्रयत्नपूर्वक इन श्लोकों को स्वयं स्मरण करें और अपने नन्हें-मुन्नों को भी कण्ठाग्र करा देवें जिससे उनके जीवन का रथ अधर्म से हट कर सदैव धर्म मार्ग पर अग्रसर होता चला जाए एवं उनके हृदयों में धर्म का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट हो जाए।

—सुनीति

अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने मनुस्मृति के धर्म सम्बन्धी श्लोक उद्धृत किए हैं।

सृष्टि के प्रारंभिक युग में चारों वेदों का अध्ययन कर वेद के सार भूत ज्ञान को सरल भाषा में प्रस्तुत करने का श्रेय मनु महाराज को है। इन्होंने मनुस्मृति के रूप में एक अद्वितीय शासन विधान मानव जाति के हितार्थ प्रस्तुत किया है। ये स्वायंभव मनु विश्व के सर्व प्रथम शासक एवं संविधान निर्माता थे। मानव समाज में शान्ति एवं व्यवस्था के हेतु एक अनुशासनबद्ध मानवता के उत्थान के लिए जिन-जिन नियमों की आवश्यकता होती है उन सबको मनुस्मृति में बड़ी ही उत्तमता से प्रस्तुत किया गया है।

दुर्भाग्य से समय-समय पर मनुस्मृति में स्वार्थी विद्वानों ने कुछ अनर्गल बातें भी मिला दी हैं इसीलिए आधुनिक लोग इस ग्रन्थ को उतना आदर नहीं देते हैं परन्तु नीर क्षीर विवेकी जन इसके महत्व को भली प्रकार जानते हैं। महाभारत की तरह मनुस्मृति को भी सुनियोजित ढंग से भ्रष्ट करने का प्रयास किया गया है पर विद्वान् लोग इसके माध्यम से सत्यासत्य का ज्ञान बड़ी सुगमता से प्राप्त कर लेते हैं। मानव समाज के लिए उपयोगी सभी नियमों को एक सूत्र में इतनी सुन्दरता से आवद्ध करने का प्रयास संभवत: भूमण्डल में न हुआ हो।

इस अद्वितीय ग्रन्थ में धर्म के स्वरूप को भी बड़ी सरलता व स्पष्टता से प्रस्तुत किया गया है। मनुस्मृति में वर्णित धर्म का यह रूप

किसी जाति या राष्ट्र विशेष के लिए न होकर मानव मात्र के लिए अनुकरणीय कर्तव्य का निर्देश करता है।

मनु महाराज ने प्रथम अध्याय में ही इस बात को दृढ़ता से प्रतिपादित किया है कि वेद स्मृति आदि शास्त्रों में वर्णित धर्म को आचरण में लाने से ही मानव समाज धार्मिक बन सकता है। इससे यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो जाती है कि वेदादि शास्त्र केवल पारायण करने के ग्रन्थ नहीं हैं। इनके पारायण मात्र को धर्म समझना अज्ञान है। इन ग्रन्थों में जो विचार हैं उनके अनुसार आचरण करके ही मानव समाज उन्नत हो सकता है। बिना आचरण के धर्म का रूप ही स्पष्ट नहीं हो सकता इसलिए मनु महाराज कहते हैं—

आचरण ही परम धर्म

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्त्सदायुक्तो नित्य स्यादात्मवान्।

मनु. अ. १ श्लोक १०८

"कहने सुनने पढ़ने पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना। इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहे।"

बिना धर्माचरण के सुख नहीं

आचारद्विच्युतो विप्रो न वेद फलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्ण फल भाग्भवेत्।

अ. १ श्लोक १०९

"क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है वह वेद प्रतिपादित धर्म जन्य सुख रूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता और जो विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है वही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है।"

कौनसा धर्म मान्य–धर्म की कसौटी

विदद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेष रागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तन्निबोधत ।

अ. २ श्लोक १

"मनुष्यों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिसका सेवन राग द्वेष रहित विद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्तव्य जानें वही धर्म माननीय और करणीय है।"

साधारण जन धर्म के सत्य स्वरूप को नहीं पहचान पाता अतः धर्म की बड़ी सुन्दर कसौटी मनु ने प्रस्तुत कर दी है। मनुष्य की अन्तरात्मा सत्यासत्य को जानने वाली है अतः अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनना तदनुकूल कर्म करना ही धर्म है। निर्वैर निष्पक्ष विद्वान् और सत्पुरुषों के आचरण का अनुकरण करना धर्म है। महापुरुषों की केवल वाचिक जयजयकार करने से कोई लाभ नहीं उनके द्वारा निर्दिष्ट जीवन-पथ पर चलना ही श्रेयस्कर होता है।

वेद ही धर्म का मूल

वेदोऽखिलो धर्म मूलं स्मृति शीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टि रेव च ।

अ. २ श्लोक ६

"सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषि प्रणीत शास्त्र सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय शंका लज्जा जिसमें न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मिथ्याभाषण चोरी आदि की इच्छा करता है तब उसकी आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है। इसलिए वह कर्म करने के योग्य नहीं है।"

ज्ञान ही धर्म का आधार

सर्वंतु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञान चक्षुषः।
श्रुति प्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मं निविशेत वै।

अ. २ श्लोक ८

"मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपनी आत्मा के अविरुद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञान नेत्र करके श्रुति प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे।"

धर्म ही कीर्ति का पथ

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।

अ. २ श्लोक ९

"जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरुद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है वह इस लोक में कीर्ति और मर के सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है।"

धर्म के चार लक्षण

श्रुति स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।

अ. २ श्लोक १२

"श्रुति-वेद स्मृति-वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और अपनी आत्मा में प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता है जैसा कि सत्य भाषण ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्माधर्म का निश्चय होता है। जो पक्षपात रहित न्याय सत्य का ग्रहण असत्य का सर्वथा

परित्याग रूप आचार है उसी का नाम धर्म और इससे विपरीत जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है उसी को अधर्म कहते हैं।"

धर्म को कौन जान सकता है ?

> अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते।
> धर्मं जिज्ञ समानानां प्रमाण परमं श्रुतिः ।। २/१३

"जो पुरुष [अर्थ] सुवर्णादि रत्न और [काम] स्त्री सेवनादि में नहीं फँसते उन्हीं को धर्म का ज्ञान प्राप्त होता है। जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें क्योंकि धर्माधर्म का निश्चय विना वेद के ठीक-ठीक नहीं होता।"

अहिंसा परमो धर्मः

> अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
> वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्म मिच्छता। २/१५२

"विद्या पढ़ कर विद्वान् व धर्मात्मा हो कर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे। वाणी से सदा मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं।"

धर्माचरण में सबसे अधिक महत्व अहिंसा का है। इसीलिए मनु महाराज ने आदेश दिया है कि जो धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहते हैं उन्हें अहिंसा का पालन दृढ़ता से करना चाहिए। मन वचन कर्म से किसी भी प्राणि को हानि पहुँचाना हिंसा कहाती हैं। वाणी से सदा मधुर बोलें जिससे सब प्राणियों पर सुख की वर्षा हो। प्रिय शब्द ही सुख के बीज हैं जो चारों ओर लहलहा कर मानव समाज को हर्षित करते हैं।

धैर्य पूर्वक धर्म का सञ्चयन

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिका ।
परलोक सहायार्थं सर्वं भूतान्यपीडयन् । ४।२३८

"स्त्री और पुरुष को चाहिए कि जैसे पुत्तिका अर्थात् दीमक अपनी वल्मीक अर्थात् बाँबी को बनाती है वैसे सब भूतों को पीड़ा न देते हुए परलोक अर्थात् परजन्म के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय करे।"

धर्म ही एकमात्र सहायक

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्र दारं न ज्ञाति धर्मस्तिष्ठति केवलः । ४।२३९

"क्योंकि परलोक में न माता न पिता न पुत्र न स्त्री न ज्ञाति सहाय कर सकते हैं किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है।"

जीव का सच्चा साथी

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् । ४।२४०

"देखिए ! अकेला ही जीव जन्म और मरण को प्राप्त होता है। एक ही धर्म का फल सुख और अधर्म का दुःख रूप फल उसको भोगता है।"

धर्म ही एक संगी

मृत शरीर मुत्सृज्य काष्ठ लोष्ठ समं क्षितौ ।
विमुखाः बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति । ४।२४१

"जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है उसको लकड़ी और मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़ कर पीठ दे बन्धु वर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता किन्तु एक धर्म ही उसका संगी होता है।"

धर्म रूपी नौका

तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् । ४।२४२

"उस हेतु से परलोक अर्थात् परजन्म में सुख और इस जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जाए। क्योंकि धर्म ही के सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःख सागर को जीव तर सकता है।"

परलोक का साथी भी धर्म

धर्म प्रधानं पुरुषं तपसा हत किल्विषम् ।
परलोकं नयत्याशु भास्वन्त ख शरीरिणम् । ४।२४३

"जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्तव्य पाप दूर हो गया उसको प्रकाश स्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है उस परलोक अर्थात् परम दर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है।"

धर्म का कोई बाह्य चिन्ह या प्रतीक नहीं

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्म कारणम् । ६–६६

"कोई संसार में दूषित करे या भूषित तो भी जिस किसी आश्रम में वर्तता हुआ पुरुष प्राणियों में पक्षपात रहित होकर स्वयं

धर्मात्मा और अन्यों को धर्मात्मा करने में प्रयत्न किया करें। अपने मन में यह निश्चित जाने कि धर्म का कोई वाह्य चिन्ह नहीं होता।"

प्रायः लोग तिलक, छाप, कण्ठी, माला, यज्ञोपवीत, शिखा, कमण्डलु, गेरुवे वस्त्र आदि को धर्म का चिह्न मान बैठते हैं। परन्तु मनु महाराज स्पष्ट घोषणा करते हैं कि धर्म को प्रदर्शित करने के लिए किसी चिह्न या प्रतीक की आवश्यकता नहीं। वह तो गुणों के माध्यम से व्यवहार में प्रकट होता है। ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास सभी आश्रमों में धर्मानुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है। सब प्राणियों में समता की एकात्मता की भावना ही मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। अपनी आत्मा के अनुकूल सभी आत्माओं के सुख दुःख का अनुभव करना ही धर्मात्मा बनने का उपक्रम है।

सभी को धर्मात्मा बनने का आदेश

चतुर्भिरपि चैवेतैर्नित्यमाश्रमिभिः द्विजैः।
दश लक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः। ६।९१

"इसीलिए चारों आश्रमी–अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासियों को उचित है कि प्रयत्नपूर्वक दश लक्षण युक्त धर्म का सेवन नित्य किया करें।"

धर्म की रक्षा प्रथम कर्तव्य

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यन्ते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदाः। ८।१४

"जिस सभा में अधर्म से धर्म असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है उस सभा में सब मृतक समान हैं। जानो उनमें कोई भी नहीं जीता।"

मनुष्यों की सभा न्याय अन्याय सत्यासत्य का विवेचन कर निर्णय करने के लिए होती है। यदि लोभ लालच या भय अथवा दबाव वश सभा के सभासद धर्म की उपेक्षा करके अधर्म को बढ़ावा देते हैं तो मनु महाराज ऐसे सभासदों को धिक्कारते हुए कहते हैं कि मानो वे आत्म-घात कर रहे है। जीते हुए भी मरे के समान हैं। देह रूप में तो जीते हैं पर आत्मा रूप में धर्म की हत्या करने से उनकी गणना मृतकों में की गयी है क्योंकि—

धर्म ही समाज का रक्षक

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्। ८।१५

"मरा हुआ धर्म मारने वाले का नाश और रक्षित किया हुआ धर्म रक्षक की रक्षा करता है इसलिए धर्म का हनन कभी न करना। इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले।"

धर्म का लोप करना अनुचित

वृषो हि भगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्। ८।१६

"जो सब ऐश्वर्यों को देने और सुखों की वर्षा करने वाला धर्म है जो उसका लोप करता है उसी को विद्वान् लोग वृषल अर्थात् नीच जानते हैं इसलिए किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं।"

धर्म ही अनन्य मित्र

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति। ८।१७

"इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् अर्थात् सच्चा मित्र है जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है और सब पदार्थ का संगी शरीर

नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं अर्थात् सब का संग छूट

जाता है परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता ।"

पाप का फल अवश्य ही भुगतना पड़ता है

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते । ३३।४१

"यह भी समझ लो कि कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है। भोगने वाले दोष के भागी नहीं होते किन्तु अधर्म का कर्ता ही दोष का भागी होता है।"

यह बात अधर्म पूर्वक धन कमाने वालों को अच्छी तरह स्मरण कर लेनी चाहिए कि गृहपति अपनी स्त्री पुत्रादि को सुख पहुँचाने के लिए येन केन प्रकारेण धन न कमावे अन्यथा उस मनुष्य को ही उसका फल भुगतना पड़ेगा। धन के भोग में तो सभी सहभागी बनेंगे पर पाप का दण्ड तो उस अकेले व्यक्ति कोही भुगतना पड़ेगा।

धर्माधर्म विवेचन

सन् १८७५ ई. में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने पुणे में १५ व्याख्यान विभिन्न विषयों पर दिए थे जिन्हें संग्रहीत कर 'उपदेश मञ्जरी' नाम से प्रकाशित किया गया है। अपने पूना प्रवचन के एक प्रवचन में महर्षि ने धर्माधर्म पर विवेचन किया है। मनुस्मृति के आधार पर दस धर्म और अधर्म युक्त व्यवहारों को स्पष्ट किया है। आवश्यकता इस बात की है कि हम धर्म और अधर्म के लक्षणों को भलीभाँति जान लें और तदनुसार धर्माचरण में लीन होकर अधर्माचरण से सर्वथा पृथक् हो जाएँ। तभी हमारा जीवन सुखी और समृद्ध हो सकता है। महर्षि कहते हैं—

परमेश्वर की आज्ञा धर्म, अवज्ञा अधर्म है।

विधि धर्म, निषेध अधर्म अर्थात् वेद विहित कर्मों का करना धर्म और जिन बातों का वेद में निषेध है उनका करना अधर्म कहाता है।

न्यायपूर्वक आचरण करना धर्म है अन्याय युक्त व्यवहार अधर्म है।

सत्य धर्म है, असत्य अधर्म है।

निष्पक्षपात धर्म है, पक्षपात अधर्म है।

"धर्म और अधर्म तो अनेक हैं परन्तु उनमें विशेष रीति से ग्यारह धर्म और ग्यारह अधर्म का विशेष विवरण निम्न प्रकार है—

अहिंसा परमो धर्मः

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मं लक्षणम्।

मनु. अ. ६।९२

प्रथम अहिंसा का लक्षण—

सर्वदा सर्वथा सर्वभूतानामनभिद्रोहः अहिंसा ज्ञेया।

योग दर्शन

"बहुत से लोग अहिंसा का अर्थ केवल पशु आदियों का मारना ऐसा संकुचित अर्थ करते हैं। परन्तु व्यास जी ने सभी प्राणियों से सर्वथा वैर त्याग को अहिंसा माना है।"

इस रूप में अहिंसा का पालन करना बहुत बड़ा तप है। प्राणी मात्र के लिए मन में वैर की भावना न रहने देना ही

धर्म का पहला पाठ है इसीलिए योगदर्शन में पाँच यमों में सर्वप्रथम अहिंसा की गणना की गई है--

अहिंसा सत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्यं अपरिग्रहा यमाः ।

मन वचन कर्म से हिंसा से दूर रहना अहिंसा है। भारत वर्ष में जितने भी महापुरुष हुए उन्होंने अपने उपदेशों में अहिंसा को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। विना अहिंसक हुए धर्माचरण का अनुष्ठान ही संभव नहीं है। वेदों में अहिंसक कार्य को ही यज्ञ के नाम से पुकारा गया है। हम अपने मन से किसी का बुरा न सोचें। वाणी के द्वारा किसी को कष्ट न पहुँचायें। हमारा कोई कर्म ऐसा न हो जिससे किसी प्राणी को हानि पहुँचे तभी पूर्णतया अहिंसा धर्म का पालन किया जा सकता है।

'धृति' अर्थात् सदा धैर्य रखना। "राज्य भी चला जाए तो भी धर्म का धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्य छोड़ने से धर्म का पालन नहीं होता।"

विपत्ति में धैर्य धारण करना बहुत बड़ा धर्म है बाधाओं से घवड़ा कर कभी धर्म का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए। विपत्ति में ही मनुष्य के धैर्य की परीक्षा होती है। हमारे आदर्श पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और हरिश्चन्द्र इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं जिन्होंने बाधाओं से विचलित न होकर नाना प्रकार के कष्ट सहे परन्तु धर्म को नहीं छोड़ा।

"क्षमा–सहनता।" निन्दा स्तुति मान अपमान हानि-लाभ आदि दुःखों में सहनशील रहना क्षमा कहाती है।"

"बड़े ने कोई अपकृत्य छोटे मनुष्य के लिए किया तो उसे छोटे ने सहन कर लिया यह क्षमा नहीं है। इसे तो

असामर्थ्य कहते हैं किन्तु शरीर में सामर्थ्य होकर भी प्रतिकार न करना क्षमा कहाती है ।"

क्षमु सहने इस धातु से क्षमा शब्द सिद्ध होता है । मनुष्य में जितनी सहनशीलता बढ़ेगी उतना ही वह अधिक धर्मात्मा बनता जाएगा । 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' पूर्ण सामर्थ्य होने पर भी अपकारी से बदला न लेना क्षमा कहाती है इसीलिए संस्कृत के कवि ने कहा है–

क्षमा शस्त्र करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति
अतृणं पतितो वह्निः स्वयमेवोप शाम्यति ।

दुर्जन की दुष्टता को क्षमा रूपी शस्त्र से ही समाप्त किया जा सकता है । जिस प्रकार भूमि पर कोई पदार्थ ही न हो तो अग्नि किसे जलावेगी ? स्वयं ही शान्त हो जाएगी । इसी तरह हम यदि उदार हृदय से सामर्थ्य होने पर भी बुराई का बदला बुराई से न देंगे तो बुराई क्षीण हो जाएगी ।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन इसका अनुपम उदाहरण है । पान में विष देने वाले दुष्ट व्यक्ति को पकड़ कर जब उनके सन्मुख उपस्थित किया गया तो उन्होंने कहा यह स्वयं अपने कृत्य पर लज्जित हो रहा है अतः इसे कारागार से मुक्त कर दो ।

प्राण घातक विष पिलाने वाले जगन्नाथ को बुला कर कहा—तुम नहीं जानते कि तुमने कितना बड़ा पाप कार्य धन के लालच में किया है तुम्हें अब राज्य की ओर से प्राण दण्ड भी मिल सकता है अतः ये रुपयों की थैली लेकर इस राज्य से बाहर निकल जाओ और भविष्य में ऐसे कुकर्म से बचे रहो ।

ईसामसीह ने असह्य प्राण दण्ड पाने पर भी उन हत्यारों के लिए प्रभु से प्रार्थना की थी कि हे प्रभु ! ये अज्ञानी हैं ये अपने पाप

को नहीं पहचान रहे तुम इन्हें क्षमा कर देना। यह है व्यक्ति की महानता की चरम सीमा ! पर धर्म इसी का नाम है जो व्यक्ति को महान् से महान्तम बना देता है।

"दम–नाम मनसो वृत्ति निग्रह :–मन को वृत्तियों का निग्रह करना इसी का नाम दम है वैराग्य ऐसा अर्थ नहीं है।"

"मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से रोक देना अधर्म करने की इच्छा भी न उठे इसका नाम दम है।"

मनुष्य का मन चंचल है। इस चंचल मन को एकाग्र करना तथा स्वयं मन के आधीन न हो कर मन पर नियंत्रण रखना ही धर्म का तीसरा लक्षण है। "मन के हारे हार है मन के जीते जीत" जिसने मन को जीत लिया जानो उसने सब को जीत लिया। मनुष्य का मन उसे नाना प्रकार की तृष्णाओं में फँसाता रहता है। अतः उसे अपने वश में करके धर्म मार्ग पर चलाने का अभ्यास करना चाहिए।

अस्तेय–"अन्याय से धनादि ग्रहण करना। बिना आज्ञा वा छल कपट विश्वासघात या किसी व्यवहार तथा वेद विरुद्ध उपदेश से पर पदार्थ का ग्रहण करना स्तेय है और स्तेय त्याग अस्तेय कहलाता है।"

धर्म के आचरण में अस्तेय का भी बहुत अधिक महत्व है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य धन कमाने की तीव्र लालसा में अन्याय पूर्वक अथवा छल कपट से येन केन प्रकारेण धन बटोरने लगता है तभी उसकी आत्मा का पतन होना प्रारंभ हो जाता है। अन्याय से या गलत ढंग से कमाया हुआ धन अर्थ न होकर अनर्थ का कारण बन जाता है और ऐसा धन मनुष्य को अशान्त व रोगी बना देता है। अतः धर्म पर चलने के इच्छुक मनुष्य अपने साधनों की पवित्रता का ध्यान रखें। परिश्रम

पूर्वक ईमानदारी से कमाया हुआ थोड़ा भी धन मनुष्य के लिए तृप्ति-कारक होता है अतः अस्तेय को धारण करना मानव समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि अशान्ति का मूल कारण स्तेय भाव है। इसी स्तेय भाव के परिणाम बड़े-बड़े महायुद्ध के रूप में प्रकट होते हैं जिससे सारे विश्व में शान्ति को खतरा होने लगता है। व्यक्ति और समाज जितनी मात्रा में अस्तेय का पालन करेंगे उतनी मात्रा में शान्ति का अनुपात भी बढ़ता चला जाएगा।

शौच–"दो प्रकार का है शारीरिक और मानसिक। उत्कृष्ट रीति से स्नानादिक विधि का आचरण करना यह शारीरिक शौच है। किसी भी दुष्ट वृत्ति को मन में आश्रय न देना, राग द्वेष पक्षपात छोड़ के वर्तना यह मानसिक शौच है। शरीर स्वच्छ रखने से रोग उत्पन्न नहीं होते तथा मानसिक प्रसन्नता भो रहती है।"

पवित्र शरीर में ही पवित्र मन और बुद्धि का विकास संभव है अतः धर्माचरण में वाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार की पवित्रता का ध्यान रखना आवश्यक है। मनु महाराज ने शरीर, मन, वुद्धि और आत्मा चारों की शुद्धि के उपाय भी वतलाये हैं। उनका कहना है––

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य से, आत्मा की शुद्धि तप और परमेश्वर को जानने से तथा वुद्धि की शुद्धि ज्ञान से संभव है। हम पवित्र होकर ही उस पवित्र प्रभु को प्राप्त कर सकते हैं। अर्थ की शुचिता विचारों की शुचिता, धर्म मार्ग को प्रशस्त करने के लिए अत्यावश्यक है।

इन्द्रिय निग्रह—"अधर्माचरण से रोक के इन्द्रियों को धर्म में ही चलाना, सारी इन्द्रियों को न्यायपूर्वक वश में रखना इन्द्रिय निग्रह कहाता है। इन्द्रियों का निग्रह बड़ी युक्ति से करना चाहिए। इन्द्रियों का आकर्षण परस्पर सम्बन्ध से होता है। मनु ने कहा है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्ता वा न विषिक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रिय ग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

"इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि माता तथा पुत्री एवं बहिनों के साथ रहने में भी सावधान रहना चाहिए।"

मनुष्य का शरीर एक रथ के समान है और इन्द्रियाँ घोड़े के समान है जिसके माध्यम से शरीर गतिमान् होता है। मनुष्य का आत्मा इस रथ का रथी है। उसे चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को सुमार्ग पर चलाये अन्यथा ये इन्द्रियाँ उसे भटका कर गढ़े में गिरा सकती हैं। इन्द्रियों के अपने-अपने विषय हैं वे उसी में अनुरक्त रहना चाहती हैं अतः उन्हें वश में रख कर धर्म मार्ग पर चलाना आवश्यक है।

धी—"बुद्धि। सब प्रकार बुद्धि को बल प्राप्त हो वैसे ही आचरण करने चाहिए। मादक द्रव्य बुद्धि नाशक अन्य पदार्थ, दुष्टों का संग, आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़के श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग योगाभ्यास, धर्माचरण, ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों से बुद्धि को बढ़ाना चाहिए।"

बिना बुद्धि के मनुष्य को धर्माधर्म, कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं हो पाता अतः बुद्धि को बढ़ाने का यत्न करना चाहिए। नशे के सेवन से बुद्धि मन्द हो जाती है अतः प्रयत्न पूर्वक शराब अफीम गाँजा आदि

नशीली वस्तुओं से दूर रहना चाहिए। तामसिक आहार से भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। अतः सात्विक पदार्थों का सेवन कर निरन्तर बुद्धि की वृद्धि करनी चाहिए। विद्वानों के संग से विद्या के अभ्यास से बुद्धि को तीव्र करना चाहिए। विषयों के अधिक सेवन से बचना अधिक उचित है, अन्यथा बुद्धि कुण्ठित हो जाती है।

विद्या—अनित्या शुचि दुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्म ख्यातिरविद्या।

"अविद्या अर्थात् विषयासक्ति ऐश्वर्य भ्रम अभिमान यह है। बड़े-बड़े पाठान्तर करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती, पाठान्तर यह विद्या का साधन होगा।

यथार्थ दर्शन ही विद्या है। प्रमा के विरुद्ध भ्रम है। विद्या में प्रायः भ्रम नहीं होता। अनात्मनि आत्म बुद्धि अशुचि पदार्थे शुचि बुद्धिः यह भ्रम है। यही अविद्या का लक्षण है और इसके विरुद्ध जो लक्षण हैं वे विद्या के हैं। पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य उपकार लेना विद्या है।

जिस पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं धनाढ्य हूँ या मै बड़ा राजा हूँ उसे अविद्या का दोष है। दूसरा शरीर का क्षीण रहना यह अविद्या के कारण ही होता है। इससे सब प्रकार की विद्या सम्पादन करने के विषय में प्रयत्न करते रहना चाहिए।

हमारे देश में न्यून अवस्था में विवाह करने की रीति के कारण विद्या सम्पादन करने में अड़चन होती है।

अपवित्र पदार्थों में पवित्रता मानना यह अविद्या है। ईश्वर का ध्यान पूर्ण विद्या है। यह सारी विद्याओं का मूल है। किसी भी देश में विद्या का ह्रास होने से उस देश को दुर्दशा आ घेरती है।"

सत्य—"तीन प्रकार का है—सत्य भाव, सत्य वचन, सत्य क्रिया। सत्य भावना होनी चाहिए. सत्य भाषण करना चाहिए। किसी प्रकार का विकल्प मन में न होना चाहिए। असत्य का त्याग करना चाहिए। जैसा आत्मा में वैसा मन में जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्तना सत्य कहाता है।"

सत्य का स्थान सर्वोपरि है। बिना सत्य के आश्रय के कोई धर्मात्मा नहीं वन सकता और विना धर्म के किसी को सुख नहीं होता अतः सत्य ही धर्म है और धर्म ही सत्य है ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। सत्य के ही आश्रय से सारा संसार टिका हुआ है। मनुष्य की आत्मा जितने-जितने अंश में सत्य को प्राप्त करती है उतने-उतने अंश में पवित्र से पवित्र तर होती चली जाती है। सत्य का मार्ग सरल है, श्रेयस्कर है इसमें दो राय नहीं। मनुष्य का आत्मा सत्या-सत्य को जानने वाला होता है किन्तु स्वार्थ और दुराग्रह उसे असत्य की ओर झुकाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम मन वचन कर्म से सत्य को धारण करें और सदा सन्मार्ग पर चलने के लिए अपने को प्रेरित करते रहें।

अक्रोध—"बड़ा भारी जो क्रोध उत्पन्न होता है उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। स्वाभाविक क्रोध कभी जा नहीं सकता परन्तु उसे रोकना मनुष्य का धर्म है। क्रोधाधीन होने से बड़-बड़े अनर्थ होते हैं। क्रोधादि दोषों को छोड़ के शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना धर्म का लक्षण है।"

क्रोध से मनुष्य का मन अशान्त हो जाता है। क्रोध में मनुष्य अपना विवेक व बुद्धि का सन्तुलन खो देता है। जिससे भारी अनर्थ कर बैठता है। अतः क्रोध रूपी शत्रु से सदा बचे रहें। क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है। मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी क्रोध का दुष्प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। क्रोध के कारण तन मन वचन क्रिया सब उत्तेजित होने लगती हैं। अतः क्रोध से बचने का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। क्रोधी मनुष्य के लिए धर्माचरण सम्भव नहीं। अतः धर्मात्मा बनने के लिए क्रोध पर संयम अनिवार्य है।

इस प्रकार मनु महाराज द्वारा प्रदर्शित धर्म के इन लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए महर्षि कहते हैं कि—"इस प्रकार का एकादश लक्षणी सनातन धर्म का पालन करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है।"

अधर्म

अधर्म के लक्षण बताते हुए मनु महाराज ने दस लक्षण अधर्म के भी गिनाएँ हैं जिनका उल्लेख महर्षि ने अपने पूना प्रवचन में किया है। उसी के आधार पर अधर्म के रूप को जान कर मानव समाज को चाहिए कि निरन्तर इन पापों से बचने का प्रयत्न करे। अधर्म तीन प्रकार से होता है मानसिक वाचिक और शारीरिक। इन तीनों प्रकार के अधर्म से अपने को बचा कर ही हम धर्म-पथ पर आगे बढ़ सकते हैं—

"मानसिक कर्मों में तीन मुख्य अधर्म हैं—

परद्रव्येष्वभिधानं मनसा अनिष्ट चिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥ १२/५

"पर द्रव्यों को लेने की इच्छा करना, लोगों का बुरा चिन्तन करना, मन में द्वेष रखना, ईर्ष्या करना मिथ्या निश्चय करना।"

धर्म-पथ के पथिक को सबसे पूर्व अपने मन को पवित्र करना होता है। मन के पाप तीन होते हैं। किसी दूसरे व्यक्ति की चीज देख कर ललचा जाना उसे येन केन प्रकारेण हस्तगत करने के उपाय सोचना अधर्म कहाता है तभी नीतिकारों ने कहा है 'पर द्रव्येषु लोष्ठवत्।' पराये धन को मिट्टी समझना चाहिए। मन में तृष्णा का उत्पन्न होना ही पाप है। पाप का जन्म पहले मन में होता है अतः उसके वीज को वहीं नष्ट कर देना चाहिए।

दूसरों के बारे में बुरा सोचना किसी का अनिष्ट या अहित करने की वात मन को मलीन कर देती है, यहीं से ईर्ष्या और द्वेष की अग्नि प्रज्वलित होने लगती है। इस अग्नि से हम दूसरों को हानि पहुँचाएँ या न पहुँचाएँ अपने को तो महान् हानि पहुँचती ही है। हृदय में ईर्ष्या द्वेष उत्पन्न होने से मन उद्विग्न होने लगता है। किसी का सुख सुहाता नहीं। दूसरों को दुःखी देख कर प्रसन्न होना यह नीचता का लक्षण है। मानवता के पतन का मुख्य कारण यह ईर्ष्या द्वेष है। मानसिक स्तर पर इस वुराई को वढ़ने से पहले ही रोक देना चाहिए। यह एक ऐसा घुन है जो अन्दर ही अन्दर मन को दुर्वल वना देता है। मन की प्रसन्नता और शान्ति के लिए यह आवश्यक है कि हम ईर्ष्या और द्वेष की चिनगारी से वचें।

तीसरा मानसिक पाप है मिथ्या निश्चय करना। जो चीज जैसी है उसको वैसी ही समझना चाहिए। जो नित्य है सो नित्य, जो अनित्य क्षण भंगुर है उसके नित्य होने की इच्छा रखना दुःखदाई है। जीवन मृत्यु के सुख दुःख के अटल नियम को समझ कर तदनुकूल आचरण करने से मन की शक्ति वढ़ती है और हम दुनिया के संघर्षों का चुनौति से सामना कर पाते है। जीवन के ध्रुव सत्य और अटल नियम को मानकर उनके सन्मुख नत मस्तक न होना ही अधर्म है उसे स्वीकार करना ही धर्म है।

मन के बाद अधर्म या पाप वाणी के द्वारा होता है। अतः मनु महाराज ने वाणी के चार पाप गिनाये हैं—

पारुष्यं अनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्। १२।६

"कठोर भाषण—सब समय सब ठौर मृदु भाषण करना यह मनुष्यों को उचित है किसी अन्धे मनुष्य को 'ओ अन्धे' ऐसा कहकर पुकारना निस्सन्देह सत्य है परन्तु कठोर भाषण होने के कारण अधर्म है। अनृत भाषण अर्थात् झुठ बोलना। पैशुन्य अर्थात् चुगली करना। असम्बद्ध प्रलाप अर्थात् जान-बूझ कर बात को उड़ाना।"

वाणी चार प्रकार से मलीन होती है एक तो असत्य भाषण से दूसरे वाणी के द्वारा किसी का दिल दुखाने से। मानव को वाणी का वरदान प्रभु की ओर से प्राप्त विशिष्ट उपहार है। इस वाणी के द्वारा ही वह सब प्राणियों से उच्च माना जाता है अतः वाणी का प्रयोग बहुत सोच समझकर करना चाहिए। द्रौपदी की कटु वाणी ने ही महाभारत की पृष्ठभूमि तैयार की थी। वाणी से सदा कोमल शान्त और मधुर शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। वाणी के सम्यक् प्रयोग से हम अपने चारों ओर सुख शान्ति और आनन्द का वातावरण बना सकते हैं। अतः मिथ्या भाषण रूपी अधर्म को छोड़ने के साथ-साथ हमें कटु भाषण छोड़ने का भी व्रत लेना चाहिए।

रात दिन दूसरों की निन्दा चुगली करते रहना वाणी का तीसरा पाप है। हमारी जिह्वा पर निन्दा में बड़ा रस लेने लगती है पर यह अधर्म है। पर निन्दक और चुगल खोर कभी भी धर्म के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते।

चौथा पाप वाणी का है गप्पें मारना । बे सिर पैर की अफ-वाहें उड़ाना । धर्म का पालन करने वालों को अपनी जिह्वा का सदुपयोग करना चाहिए । इस तरह हम अपने वाणी पर नियंत्रण करके अधर्म से बच सकते हैं । जिसने अपनी वाणी को पवित्र कर लिया उसी का बेड़ा पार हो गया । फिर वह पवित्र वाणी तपः पूत वाणी शान्ति और रस की पीयूष वाहिका बन कर कोटि-कोटि मानवों के हृदय में आनन्द का संचार करने में समर्थ हो सकेगी । मन और वाणी के पाप गिनाने के पश्चात् मनु महाराज ने शारीरिक अधर्म की ओर भी इंगित किया है । शरीर के द्वारा होने वाले पाप भी तीन प्रकार के हैं ।

अदत्तानामुपादान हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोप सेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् १२।७

"चोरी हिंसा अर्थात् सब प्रकार के क्रूर कर्म परदारोप सेवा अर्थात् अपनी पत्नी को छोड़ दूसरे की सेवा करना व्यभिचारादि कर्म करना ।"

दूसरे के पदार्थ को चुराना हाथों का पाप है । क्रूरता से व्यवहार करना अपने स्वार्थ के लिए दूसरों की हत्या करना उन्हें कष्ट पहुँचाना ये भी निन्दित कर्म है । इसी तरह से नियम पूर्वक गृहस्थ का पालन कर अपनी सन्तान के पालन रूप कर्तव्य कर्म को छोड़ कर विषय लोलुपता में फँस वेश्या-गमन आदि दुष्कृत्य करना भी मानव जीवन को कलंकित करने के साधन है । ऐसे दुष्कर्मों से अपने जीवन में भी भय, शंका, लज्जा उत्पन्न होती है और सुख शान्ति कोसों दूर भागने लगती है इसलिए धर्मात्मा बनने के इच्छुक व्यक्ति प्रयत्न पूर्वक इन पापों से बचे रहें ।

इस बात को दृढ़तापूर्वक हृदयंगम कर लेना चाहिए कि धर्म पर आचरण करने से सुख शान्ति की प्राप्ति होती है और दुःख और

अशान्ति अधर्माचरण के ही फल हैं। जब इस बात का निश्चय हो जाए तो फिर व्यक्ति दुःख पड़ने पर भाग्य या ईश्वर को नहीं कोसता, अपने आचरण को परखता है और पता लगाता है कि उसके पापाचरण का कोई बीज ही दुःख रूपी फल को प्राप्त कराने का कारण बना है।

अतः सुख शान्ति की चाहना करने वालों को प्रयत्नपूर्वक अपने मन वाणी और शरीर को अधर्माचरण से रोक कर धर्माचरण की ओर प्रेरित करना चाहिए।

धर्माचरण के तीन सोपान

शास्त्रों में धर्म के तीन स्कंध बतलायें गये हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। इन्हीं तीनों के माध्यम से धर्म कार्यों का स्वरूप निर्धारित होता है। धर्म को आचरण में लाने के लिए यज्ञ को अपनाना चाहिए। यज्ञ का अर्थ है परोपकार। प्रभु के द्वारा रचित सृष्टि के पदार्थों को यथावत् जानकर उनसे उपकार ग्रहण करना। यज्ञ एक ऐसी श्रेष्ठ क्रिया का नाम है जिससे जड़ चेतन को समान रूप से लाभ पहुँचता है। "जल-वायु की पवित्रता और वृष्टि के होने से चराचर जगत् में सुखों की वृद्धि होती है अतः प्राचीन काल से होम करने की रीति आर्यावर्त में चली आती है।"

धर्म का दूसरा स्कन्ध है अध्ययन—मनुष्य जन्म को पाकर विद्या व शिक्षा के माध्यम से निरन्तर ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए। वेदादि सत्य शास्त्रों के निरन्तर अध्ययन से मनुष्य की आत्मा को सत्यासत्य का बोध होता है अतः जीवन-पथ को प्रकाशित करने के लिए अध्ययन को जीवन का एक अंग बना लेना चाहिए।

"पूर्व काल में आर्य लोगों में स्त्रियाँ भी उत्कृष्ट रीति से पढ़ती थीं। आर्यों के इतिहास की ओर देखो ! स्त्रियाँ आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रहती थीं और साधारण स्त्रियों के भी उपनयन और गुरु

गृह में वास इत्यादि संस्कार होते थे। केवल स्त्रियाँ ही नहीं सब जातियाँ वेदाभ्यास करने का अधिकार रखती हैं।"

यथेमां वाचं कल्याणी भावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्म राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय।

"सभी वर्णों के लोगों को ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिए। विना वेदाध्ययन के धर्म का ह्रास होता चला जा रहा है। सभी स्थानों पर वेद शालायें हों उनमें वेदाध्ययन कराया जाय। वेदाध्ययन को प्रोत्साहन मिले ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।"

धर्म का तीसरा स्कंध है दान—अपनी पवित्र कमाई का कुछ भाग समाज के असहाय पीड़ित लोगों के लिए खर्च करना, उद्योगों के विस्तार व समाज की उन्नति के लिए धन व्यय करना दान कहाता है। सभी मतों में दान की महिमा गाई गयी है। प्रभु ने जीवों के सुख हेतु सृष्टि में सभी पदार्थों दान किया है तो हम भी उसकी वनाई दुनिया को सुन्दर रखने के लिए जीवन को निरन्तर दान द्वारा पवित्र करें।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म दानं विशिष्यते। —मनु

अन्नदान, वस्त्रदान, धनदान आदि सभी दानों में विशिष्ट दान ज्ञान का दान है। "विद्या वृद्धि के लिए कला कौशल की उन्नति के लिए धन लगाया जाए यह युक्त है।"

इसी प्रकार वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करना भी धर्म है। मानव जाति की उन्नति के लिए सभी को अपने-अपने कर्तव्य रूपी धर्म का आचरण करने के हेतु हमारे प्राचीन ऋषि मुनियों ने मानव समाज को चार विभागों में विभाजित किया था।

ब्राह्मण—जो वेद विद्या पढ़े पढ़ावे, यज्ञ करे करावे। ज्ञान के प्रचार द्वारा समाज की उन्नति करे।

जिस प्रकार हमारा शरीर चार भागों में विभक्त है उसी का अनुकरण कर समाज को भी कर्तव्य पालन हेतु चार भागों में बाँट कर अपनी-अपनी योग्यता व क्षमता के द्वारा समाज की उन्नति के लिए यत्नशील होने का उपक्रम किया गया था। मनुष्य शरीर में जो स्थान मुख का है वही स्थान ब्राह्मण का समाज में है। समस्त ज्ञान विज्ञान को सीख कर समाज को उन्नत व प्रकाशित करना ब्राह्मण का मुख्य धर्म है।

क्षत्रिय—जो अन्याय के निवारणार्थ सदैव कटिवद्ध रहे। समाज में वल की वृद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे। राज्य एवं सैन्य संचालन का कार्य करे।

शरीर में जो स्थान बाहुओं का है वही स्थान समाज में क्षत्रिय का है। रक्षा और न्याय के माध्यम से वह समाज की सुव्यवस्था करता है। अन्याय अत्याचार का प्रतिरोध कर न्याय और शान्ति की स्थापना ही उसका धर्म है। वलवान् वन कर समाज की सेवा करने के इच्छुक व्यक्ति क्षत्रिय धर्म का वरण करते हैं।

वैश्य—जो कृषि अर्थात् खेती व्यापार पशु पालनादि का कार्य करते हुए राष्ट्र को धनधान्य से समृद्ध वना दे वह व्यक्ति वैश्य कहाता है। धन का अर्जन करना उत्पादन एवं वितरण के माध्यम से मानव समाज को उन्नत करना वैश्य का धर्म है। शरीर में जो स्थान उदर भाग है वही स्थान समाज में वैश्य का है। उद्योग व्यापार कृषि आदि इनके मुख्य कर्म है। समाज में अभाव को दूर करने का काम ऐसे व्यक्ति करते हैं और स्वेच्छा से इस वृत्ति का वरण करके अपने धर्म का पालन करते हैं।

शूद्र—जो केवल शारीरिक श्रम के ही माध्यम से समाज की सेवा कर पाते हैं वे शूद्र कहाते हैं। जो ज्ञान विज्ञान को ग्रहण नहीं

कर पाते, जिनमें राज्य प्रवन्ध का सामर्थ्य नहीं, कृषि वाणिज्य करने की क्षमता नहीं ऐसे व्यक्ति भी समाज की सेवा करके अपने धर्म का निर्वाह करते हैं ।

यह वर्ण व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं कर्म के आधार पर थी । व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर अपने कर्तव्य को चुनता था । अक्षम होने पर वह अपना क्षेत्र बदल भी सकता था ।

जन्म के आधार पर जातीयता को वढ़ावा देने वाले व्यक्ति वर्णाश्रम व्यवस्था को ही कोसने लगते हैं और साथ ही मनु सरीखे वुद्धिमान् व्यक्ति के प्रति अनास्था के भाव फैलाते हैं मनु महाराज ने स्पष्ट व्यवस्था दी है---

शूद्रो व्राह्मणतामेति व्राह्मणश्चैति शूद्रनाम् ।

अपने अपने गुण कर्म स्वभाव के उन्नत या अवनत होने पर शूद्र व्राह्मणत्व को और व्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है । समाज की इतनी सुन्दर मर्यादित व्यवस्था मनु ने प्रचलित की थी जिसके आधार पर सब व्यक्ति अपने अपने धर्म का पालन करके समाज में सुख और शान्ति को वढ़ाने में सहायक सिद्ध होते थे । परन्तु दुर्भाग्य है मानव जाति का जो नाना प्रकार की जातियों उपजातियों में विभक्त होकर रंग-भेद वर्ण-भेद एवं वर्ग संघर्ष को वढ़ावा दे रही है । जिस प्रकार सामाजिक उन्नति के लिए समाज को चार भागों में वाँटा गया है तदनुसार व्यक्तिगत उन्नति के लिए व्यक्ति के जीवन को भी चार आश्रमों में वाँटा गया है ।

व्रह्मचर्य---पच्चीस वर्ष तक शारीरिक एवं बौद्धिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील होकर वालक नगर के राजसिक वातावरण से दूर वनों के सात्विक वातावरण में गुरु के साथ निवास करता हुआ विद्या का

अभ्यास करता था। यहाँ उसके जीवन की नींव बनती थी। ब्रह्मचर्य पूर्वक वेदाध्ययन कर वह जीवन के संग्राम में उतरने के लिए कटिवद्ध होता था। ब्रह्मचर्य आश्रम का सुधार ही सब सुधारों का सुधार है और इसके बिगाड़ से ही व्यक्ति के जीवन का अधःपतन प्रारंभ होता है। विद्या को, ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करने के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार के क्रियाकलाप में बालक के मन मस्तिष्क को विकृत नहीं होने देना चाहिए तभी उसके भव्य जीवन की शानदार इमारत खड़ी हो सकती है।

गृहस्थ—पूर्ण विद्या को प्राप्त कर धर्मानुसार स्वयंवर की रीति से अपने योग्य वर-वधू को प्राप्त कर जीवन के कर्मक्षेत्र में मानव को उतरना चाहिए। सन्तान का निर्माण करते हुए सृष्टि के भोग्य पदार्थों का सेवन कर अभ्युदय सुख की प्राप्ति ही जीवन के द्वितीय आश्रम का लक्ष्य है। धर्म पूर्वक अर्थ और काम की सिद्धि मनुष्य को करनी होती है।

वानप्रस्थ – जीवन के तृतीय चरण में पहुँच कर व्यक्ति अपनी सन्तान को योग्य बनाकर गृहस्थ की बागडोर उसके हाथों में सौंप स्वयं योगाभ्यास व ईश्वर चिन्तन करता हुआ अपने अनुभव व योग्यता को समाज की सेवा में अर्पित कर दे, यही वानप्रस्थ आश्रम का उद्देश्य है।

संन्यास – विरक्त होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारे संसार को ही अपना परिवार मानकर मानव जाति के कल्याण के लिए जुटने वाले व्यक्ति संन्यासी कहाते हैं। जो अपना तन मन धन मानवता के लिए अर्पित कर सत्य धर्म का मार्ग प्रकाशित कर सारे संसार की उन्नति में सचेष्ट हो जाते हैं। ऐसे विरले मनुष्य को पाकर मानवता भी कृतार्थ हो जाती है। वे सम्पूर्ण जगत् के स्वामी बन कर मानव समाज के

लिए, पथ प्रदर्शक व प्रेरक बनकर सर्वत्र सुख शान्ति की वर्षा करते हुए विचरते हैं।

आर्यों के जीवन की इस श्रेष्ठतम प्रणाली को पुनः अंगीकार करके ही मनुष्य समाज धर्म के रथ पर आरूढ होकर अपना और विश्व का कल्याण कर सकता है।

धर्म की वृद्धि और अधर्म के ह्रास के लिए सुनियोजित पद्धति को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

"धियो यो नः प्रचोदयात् ।"

मानव समाज की उन्नति के नियम

१. सब सत्यविद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब मानवों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए। किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

—धर्म का फल
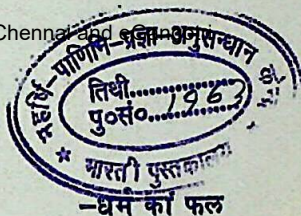
मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक ठीक वर्तता है उस को सर्वत्र सुख लाभ और जो विपरीत वर्तता है वह सदा दुःखी हो कर अपनी हानि कर लेता है।

X X X

जब मनुष्य धार्मिक होता है तब उस का विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं और जब अधर्मी होता है तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते।

X X X

जहाँ अभाग्योदय वहाँ विपरीत बुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादि स्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं और जहाँ सौभाग्योदय वहाँ परस्पर उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग हो कर करते रहते हैं; वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

—व्यवहार भानु से

जिस प्रकार अग्नि में दाहकता, जल में
उसी प्रकार मनुष्य में जो मानवीय गुण होने
हैं। यही मानवीय धर्म वैदिक धर्म कहाता है।

वेदों में वर्णित धर्म का संसार में कोई भी बु... विरोध नहीं कर सकता।

वास्तव में धर्म उन गुणों का नाम है जिससे मनुष्य मनुष्य बनता है। उसके हर कार्य में पवित्र मानवता के दर्शन होते हैं।

धीरज, क्षमा, मन का नियमन, पराई वस्तु को लेने की इच्छा न करना, तन, बुद्धि और आत्मा को पवित्र रखना, इन्द्रियों पर संयम, बुद्धि से सोच विचार कर कार्य करना और ज्ञान पूर्वक ही कर्म करना, सदा मन, वचन, कर्म से सत्याचरण, कभी क्रोध न करना ये दस लक्षण भगवान मनु ने धर्म के बतलाए हैं। यही सच्चा मानवीय धर्म या वैदिक धर्म है।

प्रस्तुत पुस्तक में धर्म के इसी स्वरूप को पढ़िए।

Cover Printed at Shree Santosh Printing Press,
4-2-128, Sultan Bazar, Badi Chawadi, Hyderabad.